PREAMBLE – CHAPTER – 7 “Knowledge of Absolute (Gyan - Vigyan yog) “

This chapter begins with Shree Krishna describing the material and spiritual dimensions of God’s energies. He explains that similar to beads strung on a single thread, all these energies have originated from Him and rest in Him. The entire creation begins and dissolves into Him. Although it is very difficult to overcome His material energy Maya, those who surrender to Him can easily cross over it by His grace.

He then describes the four kinds of people who engage in His devotion and the other four who do not surrender to Him. He says that those devotees, who worship Him in knowledge with their mind and intellect merged in Him, are dearest to Him. Yet, some are deluded by material desires and surrender to the celestial gods, who bestow upon them temporary material prosperity. However, these celestial gods also get their powers from the Supreme Lord. Therefore, the worthiest object of devotion is the Almighty God Himself.

Shree Krishna further confirms that He is the ultimate truth and the highest authority. He possesses several divine attributes such as omnipotence, omnipresence, and omniscience. However, His divine Yogmaya power hides His imperishable nature and eternal divine form. Those devotees who surrender to Him and take His shelter receive the divine knowledge of the Supreme God, the self, and the entire field of the karmic actions.

(Preamble - Courtesy : “The song of God” by Swami Mukundananda”

प्रस्तावना - सप्तम अध्याय – “ज्ञानविज्ञान योग “

सातवें अध्याय की संज्ञा ज्ञान - विज्ञान योग है। ये प्राचीन भारतीय दर्शन की दो परिभाषाएँ हैं। उनमें भी विज्ञान शब्द वैदिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था। सृष्टि के नानात्व का ज्ञान विज्ञान है और नानात्व से एकत्व की ओर प्रगति ज्ञान है। ये दोनों दृष्टियाँ मानव के लिए उचित हैं। इस प्रसंग में विज्ञान की दृष्टि से अपरा और परा प्रकृति के इन दो रूपों की जो सुनिश्चित व्याख्या यहाँ गीता ने दी है, वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। अपरा प्रकृति में आठ तत्व हैं, पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। जिस अंड से मानव का जन्म होता है। उस में ये आठों रहते हैं। किंतु यह प्राकृत सर्ग है अर्थात् यह जड़ है। इस में ईश्वर की चेष्टा के संपर्क से जो चेतना आती है उसे परा प्रकृति कहते हैं; वही जीव है। आठ तत्वों के साथ मिलकर जीवन नवाँ तत्व हो जाता है।

ज्ञान-विज्ञान का यह अध्याय भौतिक शास्त्र, अनुसंधान एवम प्रकृति को समझने के लिये महत्वपूर्ण है। गीता में इस अध्याय का विस्तृत वर्णन नही है किंतु वेद, उपनिषदों में इस के विस्तृत वर्णन से अनेक

आधुनिक वैज्ञानिक खोज के बारे में पता चलता है। हम भारतीय लोग थोड़ा सा मानसिक तनाव आने पर वस्तु को गंभीरता से नही लेते। हम भगवद कृपा भी चमत्कार से प्राप्त हो जाये, इसलिये कठिन अध्ययन, तप या मन के निग्रह की बजाए कर्मकांडो के टोटके, मंदिरों की घण्टिया या किसी भी गेरुवे वस्त्र को धारण करने वाले की जय जय कार में महत्वपूर्ण जीवन के समय को नष्ट कर देते है। यदि कुछ दान, धर्म या परोपकार भी करते है तो उस का उद्देश्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति या सांसारिक दुखो से छुटकारा प्राप्त करना होता है।

प्रकृति, आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, माया और इस सृष्टि का संचालन अर्थात प्रकृति के तीन गुण सभी एक विज्ञान की भांति अति सूक्ष्म, सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप में व्यक्त और अव्यक्त है। इसलिए इस को जानने वाला दृष्टा और दिखने वाला दृश्य भी एक विशिष्ट नियमो से बंधा है। जिस में सांख्य के अधिकतर सिद्धांतो को स्वीकार करते हुए, गीता वेदान्तिक सिद्धांत के अनुसार ही ब्रह्म, माया, ईश्वर और प्रकृति के गुणों का वर्णन करती है। अनुसंधान में विज्ञान की पढ़ाई अत्यंत कठिन अवश्य होती है किंतु गाह्य न हो, ऐसा नहीं कह सकते। अतः अध्याय 7 से 12 तक का अध्याय उच्च विज्ञान के अध्याय है, जिन्हे हम समझने की चेष्टा करते है।

पश्चिम देश से हमारे ही ग्रंथो के अध्ययन से विज्ञान में प्रगति कर रहे है, उन की प्रबंधन, योग, व्यक्तित्व विकास की पुस्तकों को हम गर्व से पढ़ कर बताते है और अपने अमूल्य धरोहर को कर्म कांड या पूजा पाठ की सामग्री समझते हुए निर्रथक बहस करते है।

पूर्व के छह अध्याय में निष्काम कर्म योग में हम से योग द्वारा मन एवम इन्द्रियों का निग्रह कैसे करे। साथ मे एकत्त्व एवम समतत्व भाव को प्राप्त करने पर अधिक बल दिया गया। किन्तु नीरा निष्काम होना, एकत्त्व एवम समत्व द्वारा मन एवम इन्द्रियों को वश में करने से परब्रह्म की प्राप्ति नही होती। सत्य यही है कि जीव परब्रह्म का अंश है और कर्तृत्व-भोक्तत्व भाव के कारण अज्ञान में रहता है। जीव ज्ञानवान है, किन्तु अज्ञान से ढका है। अतः सप्तम अध्याय से इसी अज्ञान को समाप्त करने का ज्ञान है। जैसे सूर्य प्रकाशवान है किंतु बादलों से ढक जाने यह नही कहा जा सकता कि उस का प्रकाश नष्ट हो गया। बादलों के छट जाने से उस का प्रकाश पुनः फैल जाता है। यही जीव जो स्वयं के परब्रह्म का अंश है, अज्ञान में रहने से उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नही रहता। अतः इस अज्ञान को हटाने से जीव को अपने परब्रह्म स्वरुप होने का ज्ञान हो जाता है। यही जानने के हम अज्ञान का अध्ययन कर के उस से कैसे मुक्त हो कर अपने स्वरूप को प्राप्त करे, आगे पढ़ेंगे। यह तभी सम्भव है जब मन एवम इन्द्रियों पर पूर्ण निग्रह प्राप्त हो।

इस अध्याय में भगवान के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है जिनका और विस्तार विभूतियोग नामक दसवें अध्याय में आता है। यहीं विशेष भगवती दृष्टि का भी उल्लेख है जिसका सूत्र- वासुदेव: सर्वमिति, सब वसु या शरीरों में एक ही देवतत्व है, उसी की संज्ञा विष्णु है। किंतु लोक में अपनी अपनी रुचि के अनुसार अनेक नामों और रूपों में उसी एक देवतत्व की उपासना की जाती है। वे सब ठीक हैं। किंतु अच्छा यही है कि बुद्धिमान मनुष्य उस ब्रह्मतत्व को पहचाने जो अध्यात्म विद्या का सर्वोच्च शिखर है।

सांख्यों का मत हैं कि इंद्रियों को अगोचर अर्थात अव्यक्त, सूक्ष्म और चारो ओर अखंडित भरे हुए एक ही निरवयव मूल द्रव्य से सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धांत पश्चिम देशों के अर्वाचीन

आधिभौतिक शास्त्रज्ञों को भी मंजूर है। इसी मूल द्रव्य की शक्ति का क्रमशः विकास होता आया है और पूर्वापर क्रम को छोड़ कर अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी को उत्क्रांतिवाद या विकास सिद्धांत कहते है। इस से सनातन धर्म के अतिरिक्त बाइबिल या अन्य धर्म की मान्यताओं के विपरीत होने से पश्चिम देशों को स्वीकार करने में समय लगा। अतः यह तय है शून्य से कुछ नही पैदा होता और शून्य में कुछ भी विलीन भी नही होता। जो दृश्य है वह ही स्थूल से सूक्ष्म और अति सूक्ष्म हो कर पुनः विकसित होता है। यह पूरी सृष्टि भी बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की भांति स्थूल से अतिसूक्ष्म और अति सूक्ष्म से स्थूल में परिवर्तित होती रहती है, जिसे हम ब्रहमा के रात और दिन या सृष्टि का प्रलय या रचना कहते है। इस अध्याय के ज्ञान को और विज्ञान को हम आगे विस्तृत स्वरूप में पढ़ेंगे।

सांतवे अध्याय का कर्म कांड में इतना अधिक महत्व बता दिया गया है कि भगवान शिव की वाणी द्वारा इस पाठ के पठन मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है एवम जो जिन्हें मृत्यु के पश्चात प्रेत योनि मिलती है उन के श्राद्ध में इस पाठ का करना अति उत्तम एवम फल दायक होता है।

किसी भी पठन को कुछ लोग जिज्ञासा से, कुछ ज्ञान वृद्धि से, कुछ हुंकारा भरते हुए और कुछ अनमने भाव से पढ़ते है। अर्जुन का पठन एक जिज्ञासु की भांति है, वो कोई भी संशय नही रखना चाहता। यही कारण है कि भगवान श्री कृष्ण ने उस की सम्पूर्ण जिज्ञासा के निवारण हेतु आगे उस परम ज्ञान को दिया है जो सामान्य मनुष्य के समझना भी कठिन है। इस अध्याय में 30 श्लोक हम क्रमशः पढ़ेंगे। अब सांतवे अध्याय से पढ़ना शुरू करते है और अपनी जिज्ञासा हेतु चर्चा जारी रखते है।

।। हरि ॐ तत सत।।प्रस्तावना ॥

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.1॥

श्रीभगवानुवाच
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

"śrī-bhagavān uvāca,
mayy āsakta-manāḥ pārtha,
yogaḿ yuñjan mad-āśrayaḥ..।
asaḿśayaḿ samagraḿ māḿ,
yathā jñāsyasi tac chṛṇu"..।।

भावार्थ:

श्री भगवान ने कहा - हे पृथापुत्र! अब उसको सुन जिससे तू योग का अभ्यास करते हुए मुझमें अनन्य भाव से मन को स्थित करके और मेरी शरण होकर सम्पूर्णता से मुझको बिना किसी संशय के जान सकेगा। (१)

Meaning:

Shri Bhagavaan said:

With mind attached to me, O Paartha, striving in yoga, taking refuge in me, without doubt, by which you will know me completely, listen to that.

Explanation:

Before we proceed to the seventh chapter, let's recap what we have seen so far. Arjuna, overcome with sorrow in the battlefield, pleaded to Shri Krishna to give him proper guidance. Shri Krishna proceeded to give him the teaching of the eternal essence, which was the primary topic of the second chapter.

The first step in gaining this supreme knowledge is to purify the mind of selfish desires through karmayoga, which was the topic of the third and fourth chapters. As our desires slowly get purified, karmayoga morphs into karma sanyaasa, where our activities reduce to the bare minimum. The final step is the culmination of karmayoga into dhyaana yoga or meditation. In this manner, the first six chapters of the Gita focus on the individual and self-effort.

We saw in the last chapter that Shri Krishna wanted us to meditate upon him as Ishvara. But for the most part, we do not know what Ishvara is, what is his role in the world, how do we access him and so on. Furthermore, if Ishvara truly represents the infinite eternal essence, how can the finite mind meditate on him? Chapters seven through twelve explain this technique. They reveal to us the nature of Ishvara as creator and controller of this universe. And just like we had to put forth effort to purify our mind in the prior six chapter, we need to apply a more demanding approach to understand Ishvara. It is the effort of surrender to Ishvara with bhakti or devotion.

Now, Shri Krishna introduces the seventh chapter with a powerful message. He says that he will reveal that by which we can come to know of Ishvara's true nature completely and without any doubts. This will require us to develop attachment towards him, and to seek refuge in him.

Firstly, Shri Krishna wants us to understand his true nature "samagram" or completely, and without any doubts. For many of us, our image of Ishvara is based upon pictures we have seen in books or on television of Lord Narayana

sleeping on the serpent, or of Shri Krishna playing in Vrindaavan. Shri Krishna says that there is nothing wrong with these images, but that is not the full story. He wants to reveal himself in such a manner to us that we will get a complete and comprehensive understanding of his real nature.

In the process of understanding Ishvara's true nature, we will begin to develop a strong attachment towards him and become intent on him, indicated by the words "mai aasakta". When we begin to develop an attachment to a higher ideal, the lower attachments to material things will automatically drop. There is no need for anything else as a source of joy when one develops an affinity for Ishvara.

Furthermore, we will seek his "aashraya", which means support. Usually, when we are in distress, we take the support of our job, our wealth, our body, our friends and so on. But none of these can guarantee their support. They could pull out any any minute, they are unreliable. As we begin to develop devotion towards Ishvara, we will realize that he is the only permanent support available. We will begin to rely on him solely, rather than on any other source of support.

So therefore, Shri Krishna asks Arjuna to pay attention to this message, as it is not going to be easy for everyone to develop such a connection to Ishvara. But this is the only way by which we can know Ishvara in his entirety. Shri Krishna speaks more about the nature of this knowledge in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अध्याय एक से छह में युद्ध भूमि, सांख्य योग, निष्काम कर्म योग, ज्ञान कर्म सन्यास योग, ज्ञान एवम ध्यान योग, कर्म एवम यज्ञ का स्वरूप, उस की विधि, योग का वास्तविक स्वरूप, आत्मस्थित योगी आदि की चर्चा के बाद भगवान ने अर्जुन को योगी बनने को कहा। योगी का अर्थ आत्म स्थित परमात्मा को परमात्मा को प्राप्त करने वाला। किन्तु जब तक परमात्मा को नही जानते हम भटकते रहेंगे। अतः परमात्मा की जानकारी भी होना आवश्यक है।

छठे अध्यायके अन्त में प्रश्न के बीज की स्थापना कर के फिर स्वयं ही ऐसा मेरा तत्त्व हे इस प्रकार मुझ में स्थित अन्तरात्मा वाला हो जाना चाहिये इत्यादि बातोंका वर्णन करने की इच्छा वाले भगवान् बोले आगे कहे जाने वाले विशेषणों से युक्त मुझ परमेश्वर में ही जिस का मन आसक्त हो वह **मय्यासक्तमना** है और मैं परमेश्वर ही जिसका (एकमात्र) अवलम्बन हूँ वह **मदाश्रय** है। इसलिये भगवान अर्जुन को कहते है कि हे पार्थ ऐसा मय्यासक्तमना और मदाश्रय होकर तू योग की साधन करता हुआ अन्य साधनोंको छोड़कर केवल मेरे आश्रयरूप से ग्रहण कर और मुझ में ही आसक्तचित्त हो तथा मन एवम

बुद्धि को अचलभाव से भगवान में स्थिर कर के नित्य निरंतर श्रद्धा प्रेम पूर्वक उन चिंतन करना ही **"योग युंज्जन"** है। इसलिये तू उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होकर मुझ समग्र परमेश्वर को जिस प्रकार **संशय रहित** जानेगा कि भगवान् निस्सन्देह ठीक ऐसा ही है जिस प्रकार का मै तुझे कहता हूँ अब वह प्रकार मैं तुझ से कहता हूँ ।

परमात्मा अर्थात परब्रह्म का संपूर्ण ज्ञान अध्याय 7 से 12 में दिया गया है। सगुण परमात्मा को हम तस्वीरों, मूर्तियों, धार्मिक ग्रंथों, पूजा और ध्यान में चिंतन से देखते या समझते रहते है, सगुण परमात्मा में कामना, आसक्ति और अहम का त्याग होना आवश्यक नही किंतु बिना कामना, आसक्ति और अहम को त्यागे, हम जो कुछ भी पूजा पाठ करते है, वह सांसारिक या परासांसारिक सुखों को प्राप्त करने या सांसारिक दुखो के निवारण के लिए होती है। मुक्ति या मोक्ष तो परब्रह्म को जाने, समझने और समर्पण के बिना संभव नही। अक्सर ज्ञान उच्च शिक्षा के समान है जिसे हर विद्यार्थी नही ग्रहण कर सकता। फिर कुछ ज्ञान अनुभव का विषय है जिसे जीव को स्वयं अपने प्रयास से प्राप्त करना होता है। परमात्मा द्वारा स्वयं अर्जुन को यह ज्ञान देने का निश्चय सभी के लिए लाभप्रद है ही, किंतु कुछ शर्ते भी है। प्रथम इस ज्ञान को प्राप्त करने से पूर्व कोई भी संशय परब्रह्म के प्रति नही होना चाहिए, यदि संशय है तो संशय ही काम करेगा और ज्ञान नही मिल सकेगा। द्वितीय परमात्मा के प्रति संपूर्ण समर्पण भाव होना चाहिए, बिना समर्पण के श्रद्धा , प्रेम और विश्वास नही होता। धृतराष्ट्र ने भी यह ज्ञान संजय के माध्यम से सुना था, किंतु वह कृष्ण के प्रति समर्पित न हो कर पुत्र मोह में था, इसलिए इस ज्ञान का कोई लाभ उसे नही मिला। तृतीय ज्ञान प्राप्ति के समय परमात्मा के आश्रय हो कर ध्यान पूर्वक संपूर्ण ज्ञान सुनना चाहिए। यदि मन में कोई जिज्ञासा हो तो उसे पूछने में कोई हर्ज नहीं, किंतु ज्ञान के प्रति संदेह, अविश्वास या द्वेष नहीं होना चाहिए। सर्वधर्म और सर्वभाव वाले इधर के या उधर के अर्थात कहीं के भी नही होते। इसलिए इस ज्ञान के चर्तुथ आवश्यकता श्रद्धा, प्रेम, विश्वास के परमात्मा के प्रति समर्पण होना चाहिए। यहां भगवान कृष्ण ब्रह्म स्वरूप में स्वयं को प्रस्तुत कर रहे है, परब्रह्म सगुण स्वरूप में ram, कृष्ण, शिव, दुर्गा, काली या गणपति किसी भी नाम से हो, निर्गुण स्वरूप में परब्रह्म एक ही है, अतः भगवान के निर्गुण स्वरूप के प्रति किसी भी प्रकार से आस्था खंडित नहीं होनी चाहिए। यद्यपि कुछ मीमांसको ने भगवान श्री कृष्ण को ही एक मात्र निर्गुण ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया है, यह उन की अपनी श्रद्धा या विश्वास है, परंतु निगुण, निराकार, नित्य, साक्षी, अकर्ता ब्रह्म को कोई स्वरूप नहीं दे सकते, उसे तो अभ्यास और वैराग्य से अनुभव किया जा सकता है। अतः यहां अध्याय 7 से अध्याय 12 तक हम जो भी वर्णन पढ़ेंगे, वह उस के स्वरूप तक ही वर्णन होगा, किंतु परब्रह्म उस से भी बहुत परे है। इसलिए यहां वर्णन प्रस्तुत करने से पूर्व अपने अनुभवहीन अज्ञान को भी स्वीकार करता हूं।

भगवान इतने और उतने ही नही है, अनन्त कोटि ब्रह्मांड सब उन्ही में ओत प्रोत है, सब उन के स्वरूप है। इन ब्रह्मांडो में और इन के परे जो कुछ भी है, सब उन्ही में है। वे नित्य है, सत्य है, सनातन है, वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ, सर्व्यापी, सर्वाधार, सर्व स्वरूप है तथा स्वयं ही अपनी योगमाया से जगत रूप में प्रकट होते है। वस्तुतः उन के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नही; व्यक्त-अव्यक्त एवम सगुण सब वे ही है। इस प्रकार उन भगवान के स्वरूप को निभ्रांत एवम असन्दिग्ध रूप से समझ लेना ही भगवान को संशय रहित जानना है।

ब्रह्म का ज्ञान अर्थात ईश्वरीय ज्ञान एकतत्व एवम समतत्व भाव के बिना नही समझा जा सकता। वेद-शास्त्र ग्रन्थ पढ़ने और संस्कृत के श्लोकों को उच्च वाणी में बोलने एवम अहम ब्रह्मास्मि का उच्चारण

करने से ब्रह्म को कोई आत्मसात नही कर सकता। व्यक्तित्व के उच्च कोटि के आचरण जो एक निष्काम कर्मयोगी में होने चाहिये एवम वह किस प्रकार से ईश्वर के प्रति परायण हो कर कर्म करे, यह हम सब पढ़ेंगे। योग शारीरिक क्रिया से शरीर को मजबूत करता है, मानसिक क्रिया से मन एवम बुद्धि को नियंत्रित करता है और समर्पण एवम ज्ञान के द्वारा ब्रह्म स्वरुप को प्रदान करता है। यही सम्पूर्ण योग से ही ब्रह्मसन्ध हो कर जीव मुक्त हो सकता है।

गीता के 18 अध्याय त्रिषष्ठी अर्थात 6 - 6 अध्याय के तीन भागों में बांटा गया है। वेद एवम उपनिषदों के आधार तत त्वमसि अर्थात तुम ही ब्रह्म हो के अनुसार गीता के प्रथम 6 भाग त्वम के परिचय के है जीव में जीव के विषय में ज्ञान दिया गया है, 7 से 12 तत अर्थात परब्रह्म के परिचय के है और अंतिम 6 भाग असि अर्थात जीव और ब्रह्म के एकतत्व भाव के है। यह मान्यता कुछ विद्वानों ने व्याख्या करते हुए रखी है, जिस से सभी सहमत हो, आवश्यक नही। तत का अर्थात अनित्य या मिथ्या जगत से है और सत नित्य का प्रतीक, इसे विस्तार से आगे पढ़ेंगे, क्योंकि जो ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या कह कर जो प्रत्यक्ष है, वह तत भी सत है, का निरूपण भी किया गया है।

ईश्वर को ईश्वर के आश्रय में जा कर संशय रहित हो कर मय्यासक्तमना, मदाश्रय एवम योग युज्जन से युक्त हो कर ही समझा जा सकता है। क्योंकि यही सम्पूर्ण ज्ञान है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.01 ।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.2॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

"jñānaḿ te 'haḿ sa-vijñānam,
idaḿ vakṣyāmy aśeṣataḥ..।
yaj jñātvā neha bhūyo 'nyaj,
jñātavyam avaśiṣyate"..।।

भावार्थ:

अब मैं तेरे लिए उस परम-ज्ञान को अनुभव सहित कहूँगा, जिस को पूर्ण रूप से जानने के बाद भविष्य में इस संसार में तेरे लिये अन्य कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहेगा। (२)

Meaning:

Knowledge with wisdom, I shall tell you this completely, having known that, there will be nothing else left to know.

Explanation:

Shri Krishna had begun a new topic in this chapter, which is the technique by which we can know him as Ishvara in his entirety. Here, Shri Krishna says that he will reveal not just this knowledge, but also impart us wisdom. The wisdom is such that once we know it, there will be nothing else remaining to be known.

We spend our lives acquiring knowledge about new things. With the pace of change in the world today, we would not be able to know everything, even if we were to spend thousands of lifetimes gaining PhDs in all the sciences, arts, humanities and so on. Shri Krishna says that the wisdom or "vijnyaana" that he is going to impart will be such that once we know it, nothing else will remain to be known.

I explained what is complete knowledge; complete knowledge means both the higher nirguṇa svarūpam and the lower saguṇa svarūpam and here saguṇa Īśvara
jñānam is given a technical name; jñānam and nirguṇa Īśvara jñānam is given another technical name; vijñānam. So vijñānam is not science here.

Vijñāna is equal to abēda jñānam; jñānam is equal to dvaita jñānam; The beauty is when a person is at saguṇa Īśvara jñānam level; that person will see a division between God and the devotee. When a person elevates himself and knows the nirguṇa svarūpam to his utter surprise he finds the difference between God and the individual is removed, it is like looking at the wave and ocean.

Let us see how this will be possible. We had seen the example of a goldsmith earlier who is not fascinated by the artwork or shape of the gold bangles, bracelets, necklaces and other ornaments that he comes across. All he cares about is the quantity of gold that is in each ornament. In other words, because he knows the cause as gold, he knows that the effect as the ornament, may differ in shape, but is gold in its essence. Knowledge is the shape of the different ornaments; wisdom is knowledge of their essential nature.

Once Sage Ved Vyas intended to write the Shreemad Bhagavatam: a scripture that would describe God, His glories, nature, and as the object of devotion. But he did not wish to write it only based upon his jñāna. Therefore, first he

engaged himself in bhakti to attain the experiential realization, which is vijñāna. He wrote:

"Through bhakti-yog, Ved Vyas fixed his mind upon God without any material sentiments, and thus attained the complete vision and realization of the Supreme Divine Personality along with His external energy, Maya, which was under His control." Inspired by this realization, he wrote the epic scripture.

What will happen once I know this? Shri Krishna says that having known this, nothing else will remain to be known. It will be knowledge that is all inclusive. Also, it is knowledge that makes up complete, unlike worldly knowledge that reveals further holes as we study it more.

But if this is the case, why doesn't everyone pursue this knowledge? This is taken up next.

Footnotes

1. The second half of the shloka is taken from the Mundaka Upanishad where the question is asked "Tell me that knowledge, knowing which, nothing else will remain to be known."

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को उन का आश्रय ले कर मय्यासक्तमना, मदाश्रयः एवम योग युंज्जन उन के द्वारा परमेश्वर के ज्ञान -विज्ञान को सुनने को कहा जिस वो संशयरहित हो कर सुने।

जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को वचन देते हैं कि वे न केवल शास्त्रीय सिद्धांतों का वर्णन करेंगे वरन् प्रवचनकाल में ही वे उसे आत्मानुभव के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा भी देंगे।

एक सुयोग्य विद्यार्थी को उपदेश ग्रहण के पश्चात् आत्मानुभव के लिये कहीं किसी वन प्रान्त में जाने की आवश्यकता नहीं होती है।यदि शिष्य ज्ञान के लिये आवश्यक गुणों से सम्पन्न है और गुरु के बताये हुए तर्कों को समझने में समर्थ है तो उसे अध्ययन काल में ही आत्मानुभव हो सकता है। यही कारण है कि वेदान्त केवल सुयोग्य विद्यार्थियों को ही पढ़ाया जाता है। उत्तम शिष्य के लिये आत्मानुभूति तत्काल प्राप्य है। उसे कालान्तर अथवा देशान्तर की अपेक्षा नहीं होती। यदि वेदान्त एक पूर्ण शास्त्र है और उपदेश काल में ही आत्मानुभव सिद्ध हो सकता है तो फिर क्या कारण है कि विश्वभर में ऐसे ज्ञानी पुरुष विरले ही होते हैं

"वो क्या है, जिसे एक को जानने के बाद सब कुछ जान लिया जाता है अर्थात जिसे जानने के बाद फिर कुछ भी जानने के लिए शेष नही रहता।" इस विज्ञान सहित समस्त ज्ञान भगवान श्री

कृष्ण अर्जुन को सुनने के लिए कहते है मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूंगा और उसे बताते है यह ज्ञान-विज्ञान ही उन का पूर्ण ज्ञान होगा जो उस के प्रत्येक संशय को समाप्त कर देगा।

विज्ञान का सीधा-सा अर्थ है- वस्तुओं की तमाम जानकारी हासिल करना। यदि ज्ञान को समझें तो ज्ञान का मतलब मानवीय मूल्यों के अनुरूप चिंतन करना और चरित्र के लिए आस्थावान बनना है। कहते हैं कि मनुष्य में जन्मजात पशु प्रवृत्तियां भरी होती हैं। विज्ञान का सीधा-सा अर्थ है- वस्तुओं की तमाम जानकारी हासिल करना है ।

अब अगर ज्ञान और विज्ञान की बात करें तो इसकी तुलना कुछ ऐसे होगी- हाइड्रोजन के दो कण जब ऑक्सीजन के सम्पर्क में आते हैं तो पानी बनता है, यह विज्ञान है इस पानी से जीव जन्तुऔ की प्यास बुझती है ये ज्ञान है !

जैसे आज परमाणु का ज्ञान हो जाने से उस से निमित हर जड़ वस्तु को पहचाना जाता है, जैसे मिट्टी का ज्ञान होने से मिट्टी से निर्मित विभिन्न नाम की वस्तु को पहचाना जाता है वैसे ही यह ज्ञान भगवान अर्जुन को सुनने के लिए कहते है।

मेरे प्रकट होने को देवता और महर्षि नहीं जानते और तीसरे श्लोक में कहा है कि मुझे अज और अनादि जानता है वह मनुष्यों में असम्मूढ़ है और वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। तो जिसे देवता और महर्षि नहीं जानते उसे मनुष्य जान ले यह कैसे हो सकता है भगवान् अज और अनादि हैं ऐसा दृढ़ता से मानना ही जानना है। मनुष्य भगवान् को अज और अनादि मान ही सकता है। परन्तु जैसे बालक अपनी माँ के विवाह की बरात नहीं देख सकता ऐसे ही सब प्राणियों के आदि तथा स्वयं अनादि भगवान् को देवता ऋषि महर्षि तत्त्वज्ञ जीवन् मुक्त आदि नहीं जान सकते। इसी प्रकार भगवान् के अवतार लेने को लीला को ऐश्वर्य को कोई जान नहीं सकता क्योंकि वे अपार हैं अगाध हैं अनन्त हैं। परन्तु उनको तत्त्व से तो जान ही सकते हैं।परमात्मतत्त्व को जानने के लिये ज्ञानयोग में जानकारी (जानने) की प्रधानता रहती है और भक्तियोग में मान्यता (मानने) की प्रधानता रहती है। जो वास्तविक मान्यता होती है वह बड़ी दृढ़ होती है। उस को कोई इधरउधर नहीं कर सकता अर्थात् माननेवाला जब तक अपनी मान्यता को न छोड़े तबतक उस की मान्यता को कोई छुड़ा नहीं सकता। जैसे मनुष्य ने संसार और संसार के पदार्थों को अपने लिये उपयोगी मान रखा है तो इस मान्यता को स्वयं छोड़े बिना दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता। परन्तु स्वयं इस बात को जान ले कि ये सब पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तो इस मान्यता को मनुष्य छोड़ सकता है क्योंकि यह मान्यता असत्य है झूठी है। जब असत्य मान्यता को भी दूसरा कोई छुड़ा नहीं सकता तब जो वास्तविक परमात्मा सब के मूल में है उसको कोई मान ले तो यह मान्यता कैसे छूट सकती है क्योंकि यह मान्यता सत्य है। यह यथार्थ मान्यता ज्ञान से कम नहीं होती प्रत्युत ज्ञान के समान ही दृढ़ होती है। भक्ति मार्ग में मानना मुख्य होता है।

कुछ लोग विज्ञान का अर्थ आनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार से लेते है किंतु परमेश्वरी ज्ञान ही अद्वेत वेदांत का तत्व है जो यह कहता है कि इस सम्पूर्ण जगत का मूल तत्व तो एक ही है, नाम और रूप के भेद से वही सर्वत्र समाया हुआ है, सिवा उस के और कोई दूसरी वस्तु दुनिया मे है ही नही। यदि ऐसा न हो तो भगवान का कथन जो उस ने इस श्लोक में अर्जुन को सम्पूर्ण ज्ञान - विज्ञान का कहा है सार्थक नही होगा।

ज्ञानेश्वरी में ज्ञान- विज्ञान के साथ बुद्धि युक्त अज्ञान के बारे में भी लिखा गया है। यह बुद्धि युक्त अज्ञान उन अज्ञानी श्री मन्त लोगो का है जो भगवान के इस ज्ञान एवम विज्ञान को अपने तर्कों एवम अज्ञान से नकार कर स्वयं के अस्पष्ट सिंद्धान्त बनाते- बिगाड़ते रहते है।

महृषि व्यास ज्ञानी पुरुष थे, वे जानते थे कि परब्रह्म का ज्ञान वही दे सकता है जो स्वयं उस को जानता हो। जो नही जानता या अनुभवहीन होता है, वह अज्ञान ही प्रसारित करेगा। जब श्रीमद भागवत पुराण की रचना की गई तो ज्ञान और विज्ञान के भक्ति योग   का मार्ग पकड़ा गया जिस से भक्ति विशेष से उस परब्रह्म का चिंतन और ध्यान उस की विभिन्न लीलाओं और अवतारों के साथ इस प्रकार किया जाए कि जीव अपने स्वरूप को भूल कर श्रद्धा, प्रेम, विश्वास के साथ उस अद्वैत परब्रह्म के समझने में सरलता हो। इसलिये योग विहीन लोग जब प्रवचन देते है तो वे ज्ञान की बातों में अपनी क्लिष्ट वृत्तियों के साथ देते है। भागवद सुनने के बाद परीक्षित को जो ज्ञान मिला था उस का श्रेय शुकदेव जी को है, जो स्वयं ब्रह्मसन्ध थे। वरना आज जितनी भागवद होती है, उतने भागवद करने वाले भी शुकदेव जी समान ज्ञानी नही होते। अतः गीता में द्वैत और अद्वैत का ज्ञान - विज्ञान भी भगवान श्री कृष्ण अर्थात स्वयं परब्रह्म ही अपने मानवातार में बता सकते है।

भगवान् ने यह बताया कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा जिस से कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। जब यह संपूर्ण ज्ञान - विज्ञान के बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता है तो फिर सब मनुष्य उस तत्त्व को क्यों नहीं जान लेते इस की आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.02 ।।

।। ज्ञान -विज्ञान उपासना और जीव एवम प्रकृति।। विशेष 07.02 ।।

1 - ज्ञान - विज्ञान उपासना

ईश्वर का कथन है कि ज्ञान- विज्ञान से तृप्त हुआ योगयुक्त पुरुष समस्त प्राणियों में परमेश्वर को एवम परमेश्वर में समस्त प्राणियों को देखता है। अतः मन एवम इंद्रियाओ के निग्रह की विधि के पश्चात ज्ञान एवम विज्ञान किसे कहते है, जानना भी जरूरी है।

सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान पदार्थो में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है- यह समझ लेना ही ज्ञान है एवम एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान पदार्थो की उत्पत्ति को समझ लेना ही विज्ञान है।

ज्ञान-विज्ञान के इसी ज्ञान को क्षर-अक्षर का ज्ञान भी कहा गया है तथा अपने शरीर मे जिसे क्षेत्र माना गया है उस मे आत्मा का कहा है, उस के सच्चे स्वरूप को जानना भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध करवाता है जिस को क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ एवम विचार भी कहते है।

परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हो कर कर्मो को न छोड़ते हुए भी कर्मयोग मार्ग की किन विधियों से अंत मे निःसंदिग्ध मोक्ष मिलता है, परमेश्वर के उस स्वरूप के ज्ञान को इस सातवे अध्याय से सत्तरवें अध्याय के अंत पर्यंत ग्यारह अध्यायों में हम इस विषय को पढेंगे।

परमेश्वर एक ही है, तथापि उपासना की दृष्टि से उस मे दो भेद होते है, उस का अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है और व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अतः इन दोनों मार्गो या विधियों को इसी निरूपण में परमेश्वर ने अर्जुन को बताया कि बुद्धि से परमेश्वर को कैसे पहचाने और श्रद्धा या भक्ति से व्यक्त स्वरूप की उपासना करने से उन के द्वारा अव्यक्त का ज्ञान कैसे होता है, इस के विवेचन में ग्यारह अध्याय लग गए तो भी आश्चर्य नही होना चाहिए।

परमेश्वर के ज्ञान से ही इंद्रियाओ एवम मन का निग्रह भी हो जाता है। कुछ विद्वान मीमांसक गीता के इन ग्यारह अध्याय में भक्ति योग को देखते है क्योंकि यह भक्ति भाव से ही ज्ञान मार्ग का विवेचन है। किन्तु गीता की पृष्ठ भूमि एवम अर्जुन जैसे कर्मयोगी को भगवान ने सन्यास धारण करने को कभी नही कहते हुए समय एवम स्थान के अनुसार कर्तव्य धर्म का पालन करने को कहा। युद्ध भूमि में उसे युद्ध करने को कहना वो भी योगयुक्त कर्म योगी की भांति यह ही बताता है, भक्ति योग परमात्मा को पूर्ण रूप से जानना भी कर्मयोगी के परम आवश्यक है जिस से वो मन एवम इंद्रियाओ का निग्रह कर के निष्काम भाव से कर्म करता रहे।

विपर्यय का अर्थ हम मिथ्या ज्ञान से लेते है, अर्थात जिस ज्ञान को हम जो पंच इन्द्रियों से देखते, सुनते, सूंघते, रस लेते है या स्पर्श करते है उस से वस्तु का वास्तविक ज्ञान का न होना विपर्यय है। जैसे रस्सी को सर्प समझना। पांच इन्द्रियों द्वारा जो भी अनुमान, प्रत्यक्ष या आगम किया जाता है, आत्मा उसी के अनुसार देखती या समझती है। यह ही वृति कहलाती है। वृतियां राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली क्लिष्ट या राग-द्वेष नाश करने वाली अक्लिष्ट होती है। अक्लिष्ट वृतियां संस्कारो एवम वैराग्य से उत्पन्न होती है। वृति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निंद्रा एवम स्मृति पांच प्रकार की होती है।

जो हम पांच इन्द्रियों से देखते, सुनते, सूंघते, स्पर्श करते या रस लेते है उस से जो प्रमाण होता है, वह बोध कहलाता है। बोध सही हो तो प्रमा और सही अर्थात यथार्थ से भिन्न हो तो अप्रमा कहलाता है।

प्रत्यक्ष प्रमा वह है जो पंच इन्द्रियों से प्राप्त होता है। जब किसी चिन्ह या वस्तु से अनुमान लगा कर कोई बोध लिया जाए तो वह अनुमिति कहलाता है।

जब कोई पुस्तक पढ़ कर, प्रवचन या चित्र देख कर वृति प्राप्त की जाए उसे आगम प्रमाण कहते है।

वेद, शास्त्र, पुराण हमारे आगम प्रमाण है क्योंकि इन्हें उन व्यक्तियों द्वारा दिया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त किया है। आगम प्रमाण रखने और कहने का अधिकार उसे ही है जो प्रत्यक्ष प्रमाण का अधिकारी हो। अर्थात जिस ने ज्ञान को प्राप्त किया है वही ज्ञान देने का अधिकारी है।

आज कल व्हाट्सएप्प या किसी सूचना माध्यम से जो ज्ञान कोई भी प्रसारित कर देता है वह भ्रमित ज्ञान है क्योंकि जब तक भेजने वाला उस का प्रत्यक्ष प्रमाण नही प्राप्त करता, वह भ्रमित ज्ञान के प्रसारण का अपराध ही करता है।

वृतियां जब क्लिष्ट हो तो व्यक्ति में अहंकार, लोभ, ईर्ष्या आदि दुर्गुण होते है। साथ मे उस समय जो भी ज्ञान-विज्ञान वह पढ़ता, समझता, देखता है वह उस की क्लिष्ट वृत्तियों के अनुसार ही होगा। इसलिये पूजा पाठ, यज्ञ, दान आदि सांसारिक सुखों एवम स्वर्ग के ज्यादा किये जाते और मुक्ति और मोक्ष के नगण्य। अतृप्त वासना, कामना एवम रज-तम वृति होने से ध्यान का उद्देश्य सिद्धियां प्राप्त करना या सत्ता हासिल करना रहता है। पुराणों में क्लिष्ट वृति के राक्षस लोग ध्यान आदि कर के अपनी तमोवृति की शक्तियां ही प्राप्त करते थे।

वृत्तियों को अक्लिष्ट बनाने के लिये संस्कार, वैराग्य का उत्पन्न होना आवश्यक है। इस ले लिए सतत अभ्यास, यम- नियम - श्रद्धा, स्मृति, ध्यान, प्रज्ञा आदि अंतरंग एवम बहिरंग शुद्धिकरण सतत अभ्यास से प्राप्त करते है। यही मन, इन्द्रिय एवम बुद्धि का आत्मा के साथ एकत्व एवम समतत्व भाव है। इसलिए कुछ विद्वान इन अध्यायों को भक्ति मार्ग में रख कर विवेचना करते है। जब मार्ग योग का हो तो श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और संशयहीन हो कर ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिए सन्यास, कर्म, ध्यान या बुद्धि और भक्ति सभी मार्ग आगे चल कर ज्ञान मार्ग में मिल जाते है। **जब हम अध्याय 7 से 12 पढ़ रहे है तो हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि इस से पूर्व के 6 अध्याय के अनुसार हम अपनी वृत्तियों को उत्तम करे, जिस से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो।**

चित्त की वृतियां सात्विक ही होती है, जिस से करुणा, दया, परोपकार आदि की ओर मन कर्म करने को अग्रसर होता है, किन्तु रज गुण का प्रभाव उस को कर्म करने से कामना, मोह, लोभ और आसक्ति से रोकता है और यदि तमो गुण का प्रभाव हो जाये तो आलस्य और निंद्रा हमे घेर लेती है। इसलिये जब भी यह गुण हमे कर्म करते महसूस हो तो हमे तुरंत समझ जाना चाहिये कि हमारे अंदर रज या तम गुण का प्रभाव बढ़ रहा है।

2 जीव और प्रकृति

चिदानंद स्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिंब से युक्त तम, रज तथा सत्व गुण एक वस्तु "प्रकृति" कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है।

सत्व गुण की शुद्धि से उस प्रकृति को "माया" और सत्व गुण की अशुद्धि (मलिनता) से उस प्रकृति को अविद्या मान लिया गया है। माया में पड़ा हुआ बिम्ब उस माया को वश में कर रहा है और इस कारण से वह सर्वज्ञ ईश्वर बना बैठा है।

प्रकाशात्मक सत्व गुण की शुद्धि से जब कि सत्व गुण दूसरे गुणों से कलुषित नही हो जाता - तब वह प्रकृति "माया" कहीं जाती है। जब तो वह सत्व गुण दूसरे गुणों से कलुपित हो कर अशुद्ध हो जाता है, तब वही प्रकृति अविद्या कहाने लगती है। संक्षेप यह है कि विशुद्ध सत्व प्रधान प्रकृति को माया तथा मलिन सत्व प्रधान प्रकृति को अविद्या कहते है। माया में प्रतिफलित उस आत्मा ने माया को अपने स्वाधीन कर रखा है और वही सर्वज्ञता आदि गुणों वाला ईश्वर हो गया है।

दूसरा तो अविद्या के वश में फस जाता है। अविद्या की विचित्रता के कारण वह अनेक हो जाता है। उस अविद्या को "कारण शरीर" कहते है। इस कारण शरीर कहानेवाली अविद्या में अभिमान करने वाले को "प्राज्ञ" मानते है।

अविद्या में प्रतिबिंबित हो कर उस के पराधीन हो जाने वाला आत्मा तो जीव कहाने लगता है। वह जीव तो उस अविद्या रूपी उपाधि की विचित्रता (किंवा अशुद्धि की न्यूनाधिकता) के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है। उस के देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक भेद हो जाते है। वह अविद्या ही कारण शरीर कहाती हैं, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल सूक्ष्म भूतों का वही कारण मानी गई है। उस कारण शरीर में अभिमान करने अथवा उसी में "मैं" भावना करने वाले जीव को प्राज्ञ नाम से कहा जाता है।

उन प्राज्ञों के भोग के लिए ईश्वर की आज्ञा से तम प्रधान प्रकृति में से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि नाम के पांच महाभूत उत्पन्न हुए।

उन प्राज्ञ नामक जीवों के सुख - दुख - साक्षात्कार रूपी भोग के लिए उस प्रकृति में से (जिस में तमों गुण की प्रधानता है) ईशान आदि शक्ति वाले जगत के अधिष्ठाता की से (जिस को उस का ईक्षण भी कहा जाता है) आकाश आदि पांच भूत उत्पन्न हो गए।

उन आकाश आदि पांच भूतों के पृथक पृथक पांच सत्व भागों से क्रमानुसार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण नाम की पांच ज्ञानेद्रिया उत्पन्न हो जाती है। अर्थात एक एक भूत के पृथक पृथक सत्वांश से एक एक इंद्रिय की उत्पत्ति होती है।

उन पांचों भूतों के पांचों सत्वांशों से मिल कर एक अन्त: करण नाम का द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। वह अन्त:करण अपने वृतिभेद के कारण दो प्रकार का होता है। जब वह विमर्श किंवा संश्यात्मिका वृति करता है अथवा यों कहो कि जब वह विमर्श रूप हो जाता है तब उस को मन कहा जाता है। निश्चय स्वरूप हो जाने पर उसी को बुद्धि नाम से कहने लगते है।

उन आकाश आदि पांचों भूतों के पृथक पृथक पांच रजो भागों से क्रमानुसार वाक, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ नाम की पांच कर्मेंद्रियां उत्पन्न हो जाती है।

उन पांचों भूतों के पांचों रजो भागों से मिल कर एक प्राण का जन्म हो जाता है। वह प्राण वृति भेद किंवा प्राणनादि व्यापारों के भेद से, पांच प्रकार का होता है। ये पांच प्रकार ये है - प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान।

पांच ज्ञानेद्रियां, पांच कर्मेंद्रियां, पांच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सत्रह पदार्थों से मिल कर सूक्ष्म शरीर बनता है। उसी को वेदांतो में लिंग शरीर भी कहते है।

वह प्राज्ञ नाम का जीव उस लिंग शरीर में अभिमान करने से तैजस हो जाता है तथा जब वह ईश्वर उस लिंग देह में अभिमान करता है तब वह "हिरण्यगर्भ" हो जाता है। उन दोनों में भेद केवल इतना ही है कि तैजस "व्यष्टि" है और हिरण्यगर्भ "समष्टि" है। इस के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है।

मलिनसत्व प्रधान अविद्या रूपी उपाधि वाला जीव जब लिंग शरीर में अभिमान करता है, जब वह उसी को अपना आत्मा मान लेता है, तब उसे तैजस कहने लगते है। विशुद्ध सत्व प्रधान माया रूपी उपाधिवाला परमेश्वर उसी लिंग शरीर में जब "मैपने" का अभिमान करता है तब उस का नाम हिरण्यगर्भ हो जाता है। तैजस और हिरण्यगर्भ दोनो ही यद्यपि लिंग शरीर पर अभिमान करने वाले है परंतु उन में से एक व्यष्टी और दूसरा समष्टि है। इसी से दोनो में भेद हो गया है।

वह ईश्वर - हिरण्यगर्भ कहा गया है - लिंग शरीर उपाधि वाले सभी तैजसो के साथ अपने आत्मा की एकता को समझता रहता है। वह समझता है कि ये सब मिल कर मैं हूं। इसी से वह समष्टि होता है। उस ईश्वर से अन्य जो जीव है वे तो उस तादात्म्य वेदन के अभाव से (उन सब के साथ एकत्व ज्ञान के न होने से) व्यष्टि नाम से कहे जाते है।

भगवान परमेश्वर उस के बाद उन जीवों के भोग के लिए ही भोग्य (अन्नपान आदि) तथा भोग मंदिरों (जरायुज आदि चार प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति करने के लिए, आकाश आदि पांच महाभूतों में से प्रत्येक भूत को (जो कि अभी तक अपंचात्मक ही थे) पंचात्मक कर देता है। (जिस से कि उन से जीवो के भोग के लिए भोग्य अन्नपान आदि तथा भोग्य मंदिर शरीर का निर्माण हो सके।

आकाशादि प्रत्येक भूत के पहले दो दो भाग किए जाए। फिर उन में के पहले एक भाग ले तो चार चार भाग किए जाए (तथा दूसरे आधे भागों को पूरा रखा आए) उस के पश्चात अपने अपने से भिन्न दूसरे दूसरे भागों के साथ योग करने से ये पांचों भूत पंचीकृत हो जाते है।

उस पंचीकृतं भूतों से ब्रह्मांड की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मांड में भुवन, प्राणियों के भोगने योग्य भोग्य पदार्थ तथा उन उन लोकों के अनुकूल शरीर (ईश्वर की आज्ञा से) उत्पन्न हो जाते है। इस सम्पूर्ण स्थूल (विराट) शरीर में अहम भाव से बैठने वाला हिरण्यगर्भ वैश्वानर कहाने लगता है।

इस स्थूल शरीर में आते ही तैजस विश्व हो जाते है। जिनको देव, तिर्यंग तथा मनुष्य आदि कहा जाने लगता है। वे सभी बहिर्मुख हैं। इन किसी को भी आत्मतत्व का बोध नहीं है।

इस स्थूल शरीर में अहंभाव से निवास करने वाले तैजस ही विश्व कहाने लगते है। देवता, पशु, पक्षी तथा मनुष्यादि भेद इन विश्व के ही होते है। तैजसो में इस तरह का कोई भेद नहीं होता। कारण शरीर और लिंग शरीर तो सब प्राणियों का एक समान ही होता है। इन के केवल स्थूल शरीर ही भिन्न भिन्न प्रकार के होते है। वे देवादि सभी परागदर्शी (बाह्यदर्शी) है। ये बाह्य शब्द आदि विषयों को ही देख पाते है। अपने दुर्भाग्य के कारण ये प्रत्यागात्मा को नही देख पाते है। इन सभी को आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान नही होता। यद्यपि तार्किक आदि लोग देह से भिन्न आत्मा को पहचानते है परंतु श्रुति प्रतिपादित असंग आत्मरूप का यथार्थ ज्ञान उन को भी नही है।

इसी प्रकार जब किन्ही के पूर्व उपार्जित कोटि पुण्य कर्मों का परिपाक होता है तब वे प्राणी किसी तत्वदर्शी आचार्य से उपदेश (श्रवण) को पा कर (आगे बतायी विधि से) पांच कोशों का विवेक कर लेने पर, परानिर्वृति (मोक्ष सुख) को पा लेते है।

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि (विज्ञान) तथा आनंद ये पांच कोश कहाते है। (इन को कोश कहने का कारण यह है कि) इन कोशो से आच्छादित हुआ अपना आत्मा, अपने स्वरूप को भूल जाने से कारण , जन्म मरण रूपी संसार में फंस जाता है। कोश (बंदा) जैसे कोश बनाने वाले कीड़े के क्लेश का कारण होता है अथवा जैसे कोश (म्यान) के अंदर रखी हुई तलवार का रूप छिप जाता है, इसीप्रकार इन अन्नादि कोशो ने, अद्वयानंद आत्म तत्व को ढक दिया है और आत्मा को क्लेश पहुंचा रखा है इसी से इस को कोश कहा जाता है।

पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह अन्नमय कोश कहाता है। लिंग शरीर में के राजस (रजोगुण से बने हुए) पांच प्राणों से तथा वागादी कर्मेंद्रियो से मिलकर प्राणमय कोश हो जाता है

विमर्श आत्मा मन तथा सात्विक ज्ञानेद्रियां मिल कर मनोमय कोश कहाते है। उन्ही ज्ञानेद्रियों के साथ मिली हुई निश्चयात्मिका बुद्धि विज्ञानमय कोश कही जाती है।

कारण शरीर में मोदादि वृत्तियों के साथ रहने वाले (मालिन) सत्व को आनंदमय कोश कहते है। यह हमारा आत्मा उन उन कोशो के साथ तादात्म्य कर लेने से तत्तन्मय (उन उन के रूप का) सा हो जाता है।

कारण शरीर कहानेवाली अविद्या में जो कि मालिन सत्व रहता है, वह जब उन उन प्रिय मोद तथा प्रमोद नाम की वृत्तियों से युक्त हो जाता है।(जो कि वृत्तियें क्रम से इष्ट पदार्थ के मिलने की आशा से, इष्ट पदार्थ के मिलने से तथा इष्ट पदार्थ भोगने से पैदा हुआ करती है) तब आनंदमय कोश कहाने लगता है।

वह आत्मा उस उस कोश के साथ जब तादात्म्याभिमान कर लेता है, तब उस उस कोशमय सा हो जाता है। परंतु असल में तो वह उन उन कोशो से अत्यंत विलक्षण ही रहता है।

अन्वयव्यतिरेक नाम की युक्ति से, या तो पांच कोशो को आत्मा से पृथक पहचान कर या आत्मा को उन पांच कोशो में से पृथक पहचान कर अपने आत्मा को उन में से बाहर कर के परब्रह्म ही हो जाता है।

अन्वय व्यतिरेक नाम की विभिन्न युक्तियों से पांच कोशो का विवेक कर लेने पर (उन को आत्मा से पृथक कर लेने पर) अथवा आत्मा को ही उन में से पृथक कर लेने पर, बुद्धि की सहायता से अपने आत्मा को उन कोशो में से बाहर निकाल कर, अपने चिदानंद स्वरूप का निश्चय कर के अधिकारी पुरुष परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, किंवा स्वयं परब्रह्म ही हो जाता है।

उपरोक्त शब्दावली का उद्देश्य भगवान श्री कृष्ण द्वारा ज्ञान को समझने के लिये स्वयं को कितना परिपक्क होना होगा, यही जानने हेतु बताया गया है। जिसे हम विस्तार से आगे के अध्याय में पढ़ेंगे।

इन उपरोक्त बातों को मनन करते हुए हम सातवे अध्याय का पठन जारी करते है।

।। हरि ॐ तत सत।। विशेष 07.02 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.3॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥

"manushyanam sahasreshu
kascid yatati siddhaye..।
yatatam api siddhanam,
kascin mam vetti tattvatah"..।।

भावार्थ:

हजारों मनुष्यों में से कोई एक मेरी प्राप्ति रूपी सिद्धि की इच्छा करता है और इस प्रकार सिद्धि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले मनुष्यों में से भी कोई एक मुझ को तत्व रूप से साक्षात्कार सहित जान पाता है। (३)

Meaning:

Among thousands of people, perhaps one strives for success. Among those successful strives, perhaps only one knows me in essence.

Explanation:

Shri Krishna introduced this chapter by saying that he will reveal his true nature to Arjuna, which comprises both knowledge and wisdom. He also said that by knowing this, nothing else will remain to be known. Given the powerful nature of this knowledge, one would hope that everyone would seek this knowledge rather than running after new sources of knowledge everyday. But this is not the case. Here, he says that those who seek this knowledge are extremely rare in this world.

The word siddhi has numerous connotations and meanings. As per the Sanskrit dictionary, a few of them are attainment of supernatural power, accomplishment, success, performance, fulfilment, solution of a problem, completion of cooking or a task, healing, hitting the mark, maturing, supreme felicity, beatitude, an unusual skill or faculty, perfection.

In this verse, Shree Krishna has used siddhi for perfection in the spiritual path. He says, “Only a tiny portion of the innumerable souls are fortunate to get a human birth. Amongst them, only a minuscule strive for spiritual perfection. And even among those perfected souls, ones who are aware of My divine glories and paramount position are very rare.”

Let us look at the language used in the shloka. The word “sahasra” literally means thousands, but used in this context, it means innumerable or an extremely large quantity. So the shloka then reads: out of innumerable people, only one strives for success in liberation. Out of those few strivers, only one knows Shri Krishna in his essence.

Here, we can raise a doubt and say: what about the millions of people who go the temple every day? They worship Ishvara in his numerous forms. Many people observe fasts. Many people have a little temple in their homes. Many people conduct religious ceremonies where they donate food and other items. So how can it be said that only few people know Ishvara?

This doubt can be answered by looking at the last part of the shloka where Shri Krishna says that he has to be known in his essential nature. Most of the people mentioned earlier worship Ishvara, but they tend to have a partial understanding of what Ishvara really is.

How is it that even perfected souls are unable to know God? The reason is without bhakti or loving devotion, it is not possible to realize the Supreme. Spiritual aspirants of karm, jñāna, haṭha yog, etc., cannot know God unless they include devotion in their practice.

Therefore, such spiritual aspirants who do not include devotion in their sadhana attain only limited theoretical knowledge or jñāna. And devoid of vijñāna the experiential knowledge, they are unable to know God or the Absolute Truth.

That is why Shri Krishna devoted almost a third of the Gita in describing his essential nature.

Having introduced the topic of Ishvara, Shri Krishna begins the main portion in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

संसार मे जितनी भी योनि में जीव जन्म लेता है उस मे मनुष्य योनि ही एकमात्र ऐसी योनि है जिस में मन एवम बुद्धि के साथ विवेक जुड़ा है। इसी कारण मनुष्य विवेक पूर्ण कार्य कर के अपने कर्म को निर्धारित करते हुए आगे के कर्मफलों से मुक्त हो सकता है। श्लोक का प्रारम्भ मनुष्य को संबोधित करते हुए किया गया है जिस से हम यह समझ सके कि इस दुर्लभ योनि में भी जन्म लेने बाद भी यह ज्ञान हमे क्यों नही प्राप्त हो सकता है। ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर अनेक लोग चलते है, किन्तु उस के प्रर्याप्त मेहनत हर कोई नही करता, इसलिये आधे से ज्यादा लोग ईश्वर की अनुकंपा की प्रतीक्षा करते रहते है, शेष लोग में कुछ ही लोग ईश्वर की प्राप्ति के यत्न करते है, उन्हें सिद्ध पुरुष के रूप में संबोधित तो किया गया है किंतु सिद्ध तभी माना जा सकता है जब उस ने ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो गया हो। ऐसे पुरुष लाखो में एक होते है। जब शिष्य उत्साहपूर्वक एकाग्रचित्त होकर सद्गुरु के उपदेश का श्रवण करता है तब वह स्वयं किसी सीमा तक ऊँचा उठ भी सकता है। परन्तु हो सकता है कि सत्य के द्वार तक

पहुँचकर भी वह किसी सूक्ष्म एवं अज्ञात अभिलाषा अथवा अनजाने गर्व के कारण अपनी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध कर ले और इस प्रकार सत्य के दर्शन से वंचित ही रह जाय। इस दृष्टि से ईसामसीह की यह घोषणा अर्थपूर्ण है कि एक धनवान् व्यक्ति के स्वर्ग द्वार में प्रवेश करने की अपेक्षा एक ऊँट सुई के छिद्र से सरलता से प्रवेश कर के बाहर निकल सकता है। यहाँ धन शब्द से अभिप्राय मन में संचित वासनाओं से है न कि लौकिक सम्पत्ति से। जब तक मन पूर्णतया वासनारहित होकर शुद्ध नहीं हो जाता तब तक वह सत्य के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता है।

संसार में मनुष्य के चार पुरुषार्थ कहे गए है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन में तीन पुरुषार्थ प्रकृति पुरुष के सत्व गुण के है और मोक्ष सत्वगुण से भी आगे ब्रह्मसंध होने का है। इसलिए मोक्ष के लिए कोई तैयार अज्ञान के कारण नहीं होता। यह अज्ञान मिटाने के लिए स्वयं का "मैं" श्रद्धा, प्रेम, विश्वास के साथ संशय को त्याग कर समर्पण करना होता है। अहम का त्याग संसार में किसी भी त्याग से कठिन है।

अतः सिद्ध पुरुष जिन्हें हम संबोधित करते है वो नही होते, सिद्ध पुरुष वो होते है जिन्हें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो गया है। परब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी इच्छा नहीं रहे, वही सब से श्रेष्ठ सिद्धि है।

ज्ञानेश्वरी में ज्ञान-विज्ञान के साथ जिस बुद्धियुक्त अज्ञान की बात कही गयी थी वो यही है कि यह संसार मे बसने वाले हर प्राणी को सांसारिक या स्वर्ग लोक के सुखों की इतनी अधिक लालसा रहती है कि वो परमेश्वर को भी इन्ही सुखों के लिये आराधना करता है, उस के पास अपनी बनाई गई उपासना पद्धति होती है जिस में कामना छुपी रहती है। ऐसे बुद्धियुक्त अज्ञानी भ्रमित मन से देव या प्रकृति का उपासक होता है जो उस को उस की कामना की पूर्ति कर सके। यदि कोई योगी इस कामना से बाहर तत्व को प्राप्त करने की कोशिश भी करता है तो प्रकृति द्वारा उसे भ्रमित किया जाता है। **अतः भगवान कृष्ण अर्जुन को पहले से ही सचेत करते है कि यह ज्ञान अत्यंत दुर्लभ एवम लाखो में एक व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। इसलिये इस को कैसे सुनना है यह उसे प्रथम श्लोक में ही बता देते है।**

व्यवहार में संसार मे हम स्पष्ट देखते है कि माया से भरमाये लोग, धर्म की रटी-रटाई बाते, उपदेश या प्रवचन कहते रहते है। मन की मूल प्रवृति सात्विक है किंतु रज और तम के कारण वह भटकता रहता है तो जब भी कोई अच्छी बात, प्रवचन या ईश्वर की बात करता है तो कुछ क्षण के लिये वह उस से प्रभावित होता है किंतु लोभ, मोह, सांसारिक प्रपंच के रहते वह उस भावना या आचरण पर टिक नही पाता। हम लोग रोज ईश्वर की फ़ोटो, अच्छे वचन, कहानियां, लघु कथाएं, लेख आदि सोशल मीडिया में पढ़ते, देखते और फारवर्ड करते रहते है। किंतु हजारों में कोई एक उस रास्ते पर चलता है, लाखों में कोई एक उस मे सिद्ध होता है और करोड़ो में कोई एक ब्रह्मसन्ध होता है।

पूर्व श्लोक के विवरण को जिस ने भी ध्यान से पढ़ा होगा, उसे समझ लेना चाहिए कि ईश्वर से ले कर माया और संपूर्ण सृष्टि परब्रह्म का संकल्प मात्र है, उसे मुक्ति के लिए सृष्टि चक्र से बाहर आना पड़ेगा। अतः हजारों यदि प्रयास करते है तो लाखो में कोई एक मोक्ष को प्राप्त होता है। हम से कौन है जो मुक्ति या मोक्ष के लिए वेद, उपनिषद और गीता का अध्ययन करता है। अधिकतर सामाजिक प्रतिष्ठा, मन की शांति, ज्ञान और सांसारिक सुखों के लिए भगवान को याद करते है।

गीता में सांतवे अध्याय में ब्रह्मांड के विचार में प्रथम अव्यक्त एवम अक्षर परब्रह्म के ज्ञान को भक्ति एवम उन का आश्रय ले कर सुनने को कहा गया है, जिसे हम एक कर्मयोगी के रूप में संशय रहित हो कर सुने। कुछ मीमांसक इस ज्ञान को सांख्य या भक्ति योग से जोड़ कर कर्मयोग के मूल से अलग उन लोगो को ज्यादा महत्व देते है जो समाज मे सन्यासी बन कर रहते है किंतु कर्मयोगी सन्यासी वही है जिस ने इस ज्ञान के बाद लोकसंग्रह के लिये कर्म किये।

मुंडक उपनिषद में आरम्भ में ही एक प्रश्न है कि किस एक का ज्ञान होने से अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अद्वैत का प्रतिपादन इसी से प्रारम्भ होता है क्योंकि परब्रह्म का ज्ञान-विज्ञान होने से समस्त ज्ञान होने की बात की गई हैं।

परमेश्वर के ज्ञान के दो विभाग किये गए है। प्रथम में क्षर-अक्षर विचार एवम द्वितीय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार माना गया है। इस मे प्रथम अब क्षर-अक्षर विचार को हम आगे पढ़ना शुरू करते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.03 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.4॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"bhūmir āpo 'nalo vāyuḥ,
khaḿ mano buddhir eva ca.. l
ahańkāra itīyaḿ me,
bhinnā prakṛtir aṣṭadhā"..।।

भावार्थ:

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार - ऐसे यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो मेरी जड़ स्वरूप अपरा प्रकृति है। (४)

Meaning:

Earth, water, fire, wind and space, along with mind, ego and intellect, in this manner, this is my eight-fold differentiated nature.

Explanation:

Shri Krishna, having promised Arjuna that he will reveal his true essence, begins to do so in this shloka. He says that five primordial elements, as well as mind, ego and intellect, comprise his prakriti or nature.

Earth, water, fire, wind and space here do not mean tangible physical elements that we can perceive through our senses. They refer to the qualities of the physical elements. For example, water here refers to the quality of liquids that enable them to flow. Fire refers to the quality of a flame to generate light and heat. When these elements combine with each other, they have the potential to create every object in this universe. In other words, Shri Krishna says that the building blocks of the universe are nothing but his manifestation.

The material energy in its primordial form is called prakṛiti. God glances at it when He wishes to create the world. His glance agitates and creates mahān. (There is no equivalent word for it in English, as modern science is yet to discover such a subtle level of energy) Mahān further manifests into ahankār even this is unknown to modern science. Ahankār, in turn, forms the pañch-tanmātrās or the five perceptions of – taste, touch, smell, sight, and sound. And from these, the five gross elements— space, air, fire, water, and earth manifest.

The energy that composes this material world is incredibly complex and fathomless. To make it comprehensible to our finite intellect, we have classified it into various categories and sub-categories. Modern science propagates matter to be a combination of elements, and the 118 elements discovered so far, are sectioned under the Periodic Table.

It is amazing how insightful the knowledge in these ancient scriptures is in comparison to the developing trends in modern science.

Albert Einstein was the first to propound the concept of Mass-Energy Equivalence in 1905. In his Annus Mirabilis papers, he stated that it is possible to convert mass into energy and numerically presented it by an equation E=mc2. His Theory of Relativity replaced an earlier concept of the universe made of solid matter. Both these theories were challenged in 1920 by Niels Bohr and other scientists with Quantum Theory, which proposes a dual particle-wave nature of matter. Ever since, the scientific community has been on the lookout for a single field or Unified Field Theory, which could expound on the relationship between matter and all forces of the universe.

More than 5000 years ago, long before the development of modern science, Lord Krishna had disclosed the perfect Unified Field Theory. He said to Arjun, "All that exists in the universe has manifested from My material energy." Just

one material energy has extended itself into myriad shapes, forms, and entities of this world.

What is the implication here? For many of us that have a set image of Ishvara as a certain deity, this is a whole new way of understanding. It means that Ishvara is within our grasp 24 hours a day, seven days a week. All of the objects, situations and people that we interact with are made up of these elements.

This means that if we realize that everything comes from Ishvara, then we should not have room for any negative emotions such as jealousy, anger etc. Why? When we know that everything is created and owned by Ishvara, we do not get agitated if our neighbour buys a bigger car or gets a better job. We see everything as ultimately belonging to Ishvara, so it does not matter who temporarily claims it as his or hers.

Now, having discussed the five elements, let us take up the other three through an illustration. In the morning, just before we are about to wake up, our mind is in an unmanifest state. We are not aware of anything. As we begin to get up, the first thought that comes to mind is subject awareness, i.e. "I am so-and-so". Soon after, we begin thinking that "I am so-and-so in this bedroom, and it is 7 am now". The mind goes from unmanifest, to the ego (I am), to awareness of objects.

The creation of the universe per the Saamkhya school of philosophy follows these three stages as well. The universe originally lies in an unmanifest state. The first manifestation or transformation in this state is the ego-principle, which is also known as self-assertion or the "I-principle". It creates the notion of the subject and object, or of the experiencer and experienced. Finally, this ego-principle learns how to manifest itself in terms of objects, which is known as the cosmic mind. These three states - unmanifest, ego-principle and cosmic mind are denoted in the shloka as mind, ego and intellect.

The cosmic mind then begins to manifest itself from the most intangible elements to the most tangible ones, step by step. The first element produced is space, which is invisible. Next is air, which we cannot see but can infer from its effects. Next is fire, which we can see but not touch. This is followed by water, which we can see and touch. Finally, earth is produced which is the most

tangible element of all. If you reverse the order of elements given in this shloka, it exactly follows the doctrine of creation in Saamkhya.

So, if we take all of these 8 factors into account, we realize that all the material aspects of the universe is Ishvara. Ishvara has not created this world like a sculptor creates statues out of clay. He has created the world out of himself. It is like the spider that creates the web out of himself, like the Mundaka Upanishad says.

The entire world of experience is Ishvara. But what about the experiencer himself? This is taken up in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता में ज्ञान-विज्ञान की शुरुवात करते है, गीता में भगवान श्री कृष्ण पहले भी कह चुके की हजारों में कोई एक इस को समझ पाता है, अतः जबतक ध्यान पूर्वक पठन एवम मनन नही करते है, ज्ञान - विज्ञान पर आधारित अध्याय 7 से 17 समझ मे नही आते।

कल्पना कीजिए ब्रह्मांड के जिन रहस्यों को आज नासा सहित वैज्ञानिक आज जितना खोज पा रहे है, उस से कई गुना अधिक रहस्य उस काल में हमारे पूर्वजों ने खोज लिए थे। गीता पांच हजार साल पहले का ग्रंथ है किंतु इस अध्याय में जो प्रकृति का रहस्य बताया गया है वह उपनिषदों से या वेदों से लिया गया है।

एक महऋषि कर्णाद हुए थे जिनकी परमानुवाद के सिद्धांत आज के रसायन शास्त्र में आज भी उपयोगी है। न्याय और वैशेषिक का यह सिद्धांत कि परमाणुओं से जगत् सृष्टि हुई है । वैशेषिक और न्याय दोनों पृथ्वी आदि चार महाभूतों की उत्पत्ति चार प्रकार के परमाणुओं के योग से मानते हैं (दे° परमाणु) । जिस परमाणु में जो गुण होते हैं वे उससे बने हुए पदार्थो में भी होते हैं। इस भी हम विस्तृत रूप में दर्शन शास्त्र में बाद में पढ़ेंगे।

पूर्व श्लोक 2 के विशेष में प्रकृति के गुणों को हम ने पढ़ा है। जो सांख्य से लिया गया है। इस को गीता में अत्यंत कम परिवर्तन से स्वीकार किया गया है।

सृष्टि की रचना के ब्रह्म को कारण बताया गया है, इसी ब्रह्म से रचना के लिए उपादान कारण और निमित्त कारण दो भाग अर्थात जगत की उत्पत्ति वस्तु अर्थात मूल तत्व और उस से निर्माण का कारण होता है। इस सृष्टि की रचना के लिए ब्रह्म ही एकमात्र उपादान और निर्माण का कारण दोनों ही है।

यदि सृष्टि को देखे तो रचना के कारण हर वस्तु में दो होते है किंतु ब्रह्म एक मात्र होने के कारण इस की दो प्रकृति परा और अपरा, क्षर और अक्षर, जड़ और चेतन, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि स्वरूप को हम आगे विस्तृत पढ़ेंगे। इस अध्याय में क्षर और अक्षर का वर्णन किया गया है। जगत कर्ता शिव और शक्ति स्वरूप में अर्धनारीश्वर में कल्पना की गई हैं। सब से पहले अपरा प्रकृति को पढ़ते है।

भगवान कहते है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवम अहंकार इन आठ प्रकारों से मेरी प्रकृति विभाजित है। इन्हें आगे चल कर **प्रकृतिरष्टा** के नाम से जाना जाता है।

प्रकृति को अपरा- परा दो भागों में माना गया है। जिसे हम अचेतन अर्थात जड़ प्रकृति एवम चेतन अर्थात पुरुष या जीव माना गया है। इन दो तत्वों को मिला कर सम्पूर्ण प्रदार्थ उत्पन्न हुए हैं। गीता इन दो तत्वों को यानि जड़ एवम चेतन को एक ही परमात्मा का अंश मानते हुए सांख्य योग द्वारा जड़ एवम चेतन की परिभाषा को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार करती है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति के 23 तत्व है।

1. पांच महाभूत - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवम आकाश

2. दस इंद्रियां एवम मन - कर्म इंद्रियां - हाथ, पैर, मुह, लिंग (जनन एवम मूत्र विसर्जन इंद्री) एवम गुदा (मल विसर्जन इंद्री) और ज्ञान इंद्रियां- आंख, नाक, कान, जीभ एवम त्वचा

यह 16 तत्व हुए। शेष सात तत्व के बुद्धि, अहंकार एवम पचतन्मात्राये (सूक्ष्म भूत) जिसे हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवम गंध से जानते है। इस मे मूल प्रकृति को मिला देने से सांख्य में 24 तत्व से युक्त प्रकृति स्वतंत्र मानी गई है। गीता इन 24 तत्व को आठ भाग में विभाजित करती है, जिस का वर्णन हम ऊपर कर चुके है।

सांख्य में बुद्धि, अहंकार, पंच तन्मात्राएँ गंध, स्पर्श, शब्द, रस एवम रूप को सूक्ष्म भूत कहा गया है। इसे प्रकृति- विकृतियाँ भी कहा जाता है।

सांख्यशास्त्र में सब सृष्टि का मूल अचेतन अर्थात जड़ प्रकृति और सचेतन पुरुष, इस प्रकार दो स्वतंत्र तत्व है जब कि गीता में दोनों ही एक ही परमात्मा की दो विभूति है। इस अध्याय में जड़ प्रकृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे। गीता के अनुसार जब प्रकृति स्वयं परमात्मा का ही स्वरूप है तो प्रकृति का हर जड़ पदार्थ भी परमात्मा का ही अंश है। द्वैतभाव भाव मे मूर्ति पूजा, प्रकृति पूजा या वृक्ष, नदी, पहाड़ो की पूजा परमात्मा के अंश की ही पूजा है। 16 जड़ पदार्थ में जब चेतन्य अर्थात परा प्रकृति का प्रवेश हो तो मन, बुद्धि एवम अहंकार का समावेश हो तो वो जड़ जीव कहलाता है। अतः प्रकृति में भौतिकी विज्ञान के दृष्टिकोण से जीव में कोई अंतर नही होता।

जीव अर्थात चेतन्य तत्व को परा प्रकृति कहा गया है। चेतन शब्द मन, बुद्धि, अहंकार से जुड़े जीव से है, जब कि चेतन्य शब्द परब्रह्म से जुड़ा जीव है।

सर्वप्रथम हम इन आठ जड़ पदार्थो को विस्तृत रूप में समझे। जैसे जल सभी प्रकार के द्रव्य पदार्थ का प्रतीक है, अग्नि में प्रकाश और तेज, आकाश किसी भी रिक्त स्थान, वायु -प्राण एवम पृथ्वी जड़ पदार्थ आदि को सयुक्त रूप में लिया जाता है। इस संसार मे समस्त प्रदार्थ इन पांच तत्व के ही है जिन के रूप एवम आकार भिन्न भिन्न है। इसी प्रकार मन, बुद्धि एवम अहंकार से जीव रूप में समानता रखता हुआ भी भिन्न भिन्न है। गीता में इन सभी जड़ प्रदार्थो को भगवान ने अपना ही अंश माना है क्योंकि प्रकृति ईश्वर के अधीन, ईश्वर द्वारा माया से संचालित है। जीव जैसे ही अपरा प्रकृति में परिवेश पाता है तो प्रकृति की माया में मोहित हो जाता है और उस का अहम यानि मैं पन पैदा हो जाता है। इसी मैं पन के कारण उसे प्रकृति में सुख की कामना रहती है।

अपरा प्रकृति निकृष्ट जड और परिवर्तनशील है प्रत्येक मनुष्य का भिन्नभिन्न स्वभाव होता है। जैसे स्वभाव को मनुष्य से अलग सिद्ध नहीं कर सकते ऐसे ही परमात्मा की प्रकृति को परमात्मा से अलग (स्वतन्त्र) सिद्ध नहीं कर सकते। यह प्रकृति प्रभु का ही एक स्वभाव है इसलिये इसका नाम प्रकृति है। इसी प्रकार परमात्मा का अंश होने से जीव को परमात्मा से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि यह परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा का स्वरूप होने पर भी केवल अपरा प्रकृति के एमएमसाथ सम्बन्ध जोड़ने के कारण इस जीवात्मा को प्रकृति कहा गया है। अपरा प्रकृति के सम्बन्ध से अपने में कृति (करना) मानने के कारण ही यह जीवरूप है। अगर यह अपने में कृति न माने तो यह परमात्मस्वरूप ही है फिर इस की जीव या प्रकृति संज्ञा नहीं रहती अर्थात् इस में बन्धनकारक कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रहता ।

भारत के तत्त्वचिन्तक ऋषियों ने वैज्ञानिक विचार पद्धति से इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार सनातन पूर्ण पुरुष प्रकृति की जड़ उपाधियों के संयोग से इस नानाविध सृष्टि के रूप में व्यक्त हुआ है।भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में प्रकृति का वर्णन करते हैं तथा अगले श्लोक में चेतन तत्त्व का। यदि एक बार मनुष्य प्रकृति और पुरुष जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट रूप से समझ ले तो वह यह भी सरलता से समझ सकेगा कि जड़ उपाधियों के साथ आत्मा का तादात्म्य ही उसके सब दुखों का कारण है। स्वाभाविक ही इस मिथ्या तादात्म्य की निवृत्ति होने पर वह स्वयं अपने स्वरूप को पहचान सकता है जो पूर्ण आनन्दस्वरूप है। आत्मा और अनात्मा के परस्पर तादात्म्य से जीव उत्पन्न होता है। यही संसारी दुखी जीव आत्मानात्म विवेक से यह समझ पाता है कि वह तो वास्तव में जड़ प्रकृति का अधिष्ठान चैतन्य पुरुष है जीव नहीं।

अर्जुन को जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम प्रकृति के आठ भागों को बताते हैं जिसे यहाँ अष्टधा प्रकृति कहा गया है। अष्टधा प्रकृति में सांख्य के मन, कर्मेद्रियों और ज्ञानेद्रियों की मिला कर एक माना गया है। इस विवेक से प्रत्येक व्यक्ति अपने शुद्ध और दिव्य स्वरूप को पहचान सकता है। आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी वे पंचमहाभूत तथा मन बुद्धि और अहंकार यह है अष्टधा प्रकृति जो परम सत्य के अज्ञान के कारण उस पर अध्यस्त (कल्पित) है। व्यष्टि (एक जीव) में स्थूल पंचमहाभूत का रूप है स्थूल शरीर तथा उन के सूक्ष्म भाव का रूप पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिन के द्वारा मनुष्य बाह्य जगत् का अनुभव करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ ही वे कारण हैं जिन के द्वारा विषयों की संवेदनाएं मन तक पहुँचती हैं। इन प्राप्त संवेदनाओं का वर्गीकरण तथा उन का ज्ञान और निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण मन के द्वारा उन का एकत्रीकरण तथा बुद्धि के द्वारा उन का निश्चय इन तीनों स्तरों पर एक अहं वृत्ति सदा बनी रहती है जिसे अहंकार कहते हैं। ये जड़ उपाधियाँ हैं जो चैतन्य का स्पर्श पाकर चेतनवत् व्यवहार करने में समर्थ होती हैं।

सांख्य, वेदान्त के सिंद्धान्त गीता में कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किये है, इसलिये अध्याय 7 से 12 मुख्यतयः उपनिषदों से ही लिया गया है। सब से पहले ब्रह्म ही था उस ने परा एवम अपरा प्रकृति की रचना करी। इसलिए दोनो ही नित्य है। किसी की रचना के वस्तु एवम कर्ता की आवश्यकता होती है, इसलिये सांख्य दोनो को भिन्न भिन्न नित्य स्वरूप मानता है। किन्तु वेदान्त प्रकृति एवम जीव दोनो की रचना एक ही ब्रह्म का स्वरूप है।

इस के पश्चात् अपनी परा प्रकृति बताने के लिए भगवान् क्या कहते हैं, यह हम अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.04 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.5॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

"apareyam itas tv anyāḿ,
prakṛtiḿ viddhi me parām.. l
jīva-bhūtāḿ mahā-bāho,
yayedaḿ dhāryate jagat".. l l

भावार्थ:

हे महाबाहु अर्जुन! परन्तु इस जड़ स्वरूप अपरा प्रकृति (माया) के अतिरिक्त अन्य चेतन दिव्य-स्वरूप परा प्रकृति (आत्मा) को जानने का प्रयत्न कर, जिसके द्वारा जीव रूप से संसार का भोग किया जाता है। (५)

Meaning:

But know this lower (nature as) different than my life-giving higher nature, O mighty armed, by which this universe is upheld.

Explanation:

In the previous shloka, Shri Krishna described his nature that was made up of 8 factors: 5 physical elements and 3 subtle elements. Now, he says that those 8 factors comprise the lower, or inferior, type of nature. It is different than the higher or superior nature, that is the life force of the universe. It functions as a force that holds the universe together.

A house is built out of bricks, wood, iron rods and so on. But the building blocks by themselves do not make a house. There must be an integrating or unifying principle in the form of cement that holds the house together. Shri Krishna says that his higher nature is the cohesive force that upholds the universe. By using the word “jeeva-bhootam”, he is saying that he becomes the universal jeeva or

being that makes the universe as a single entity rather than a disjointed chaotic mess.

He says is inferior; there exists another that is far more superior. This energy is completely transcendental as compared to the lifeless matter. It is His spiritual energy, the jīva śhakti, which includes all the living souls of the world. Now, He has moved from explaining material science toward the spiritual realm.

Many great philosophers of India have given their perspectives and described the relationship between God and the jīva, the individual soul. For example, the non-dualists state: jīvo brahmaiva nāparaḥ "The soul itself is God." But this concept gives rise to several questions, such as:

How can the soul itself be God? God is most powerful, and Maya is His subservient energy. The souls are always overpowered by, Maya. Then is Maya stronger than God?

The individual soul is always; gripped by ignorance and misery. It needs a continuous reminder from the saints and scriptures, even about its existence and purpose. How can God, who is all-knowing, be considered a soul which is subject to ignorance?

The Vedas repeatedly state that God is all- pervading in this world and beyond. Similarly, individual souls should also be able to exist anywhere at any given time. Then what about the question of going to heaven or hell after death?

There is only one God, but the souls are countless. If the soul itself is God, then there should be many Gods. Therefore, the claims by non-dualistic philosophers that the soul itself is God are inconclusive.

The dualist philosophers' state that the souls and God are separate. Even though it may answer some of the above questions, yet it is still an incomplete philosophy in light of what Shree Krishna states in this verse. He says that the soul is a part of jīva śhakti God's spiritual energy. And as explained earlier, Maya, the material energy, is also His subservient. Thus, God is supreme; He is the governor of both the lower material and the higher spiritual energies.

Furthermore, it is this higher nature that becomes the experience of the entire universe as a subject. What does the word "subject" mean? Whenever we see

something, two things are required: the subject (one who sees) and the object (that which is seen by the subject). If I see a sofa, then I am the subject, and the sofa is the object. The sofa can never become the subject because it is an inert object. Only conscious entities can become subjects. There is a spark in us, a conscious principle, that enables us to see, hear, touch, taste and smell, in other words, to become a subject.

Throughout our life, we seek knowledge about the world though several sources. But those studies only cover the world of objects, which is indicated here by the term “lower nature”. Only spirituality provides us knowledge about the subject, which is nothing but our own self.

So then, why are we talking about subject and object here? It is because Shri Krishna’s lower nature creates the world of objects, and his higher nature creates the world of subjects. When the universe originated, it split, as it were, into two aspects: the lower and the higher nature. The lower nature or prakriti is what we generally describe as the universe that we can see with our eyes and with our telescopes, in both its visible and invisible aspects.

That was the lower nature. The higher nature further split itself into subsets. Each subset became a jeeva, which is the conscious principle operating within each of us. That jeeva principle within us makes us a subject, an experience.

Once we understand and accept that the soul is a small part of God’s infinite energy, the concept of non-duality of the entire creation becomes clear. Energies can exist concurrently within the same energetic. For example, fire contains both heat and light, which are different entities and have different properties. But they are part of the same fire which emits them. Likewise, God as the Energetic and the souls His energy can be considered one. At the same time, due to their distinct properties, both entities are different from each other.

There are three entities in existence: 1) Matter, which is perishable. 2) The individual souls who are imperishable. 3) God, who is the controller of both matter and the souls. By meditating upon God, uniting with Him, and becoming more like Him, the soul is free from the world’s illusion.”

The Vedas have expounded on both dualistic and non-dualistic concepts.

Therefore, with these two shlokas, Shri Krishna has covered everything in the world - subject and object, inert and conscious, experiencer and experienced, building blocks and unifying force. But what is common between them? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

ईट, बजरी, सीमेंट आदि से मकान बन जाता है किंतु घर तब तक नही बनता, जब तक कोई उस मे रहने न लगे। मकान का उपयोग उस मे रहने वाला करता है। अष्टधा प्रकृति अर्थात अपरा प्रकृति के सांख्य के 24 गुणों को हम ने पूर्व श्लोक में पढ़ा, यह सब जड़ प्रकृति है, इस मे चेतन स्वरूप जीव जब तक नही प्रविष्ट करता है, तब तक जड़ प्रकृति में कोई क्रिया नही होती। भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को इस जीव स्वरूप परा प्रकृति को जानने के लिये भगवान कह रहे है क्योंकि परा प्रकृति ही परब्रह्म का अंश है और मुक्ति का आशय इस परा प्रकृति को पुनः परब्रह्म स्वरूप में विलीन होना है।

परा प्रकृति जीवरूप अर्थात् चेतन रूप है जिस के कारण ही शरीर मन और बुद्धि अपने अपने कार्य इस प्रकार करते हैं मानो वे स्वयं ही चेतन हों। इस चेतन की विद्यमानता में ही उपाधियाँ अपना व्यापार कर सकती हैं अन्यथा नहीं। चैतन्य के बिना हमें न बाह्य स्थूल जगत् का और न आन्तरिक सूक्ष्म विचार रूप जगत् का ही अनुभव और ज्ञान हो सकता है। वही जगत् को धारण किये हुए है। उसके अभाव में हमारी दशा एक पाषाण के समान हो जायेगी जिसमें न चेतनता है और न बुद्धिमत्ता।

यह (उपर्युक्त) मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् परा नहीं, यह निकृष्ट है अशुद्ध है और अनर्थ करनेवाली है एवं संसारबन्धन रूपा है। हे महाबाहो ! इस उपर्युक्त प्रकृति में दूसरी जीवरूपा अर्थात् प्राण धारण की निमित्त बनी हुई जो क्षेत्रज्ञ रूपा प्रकृति है अन्तर में प्रवृष्ट हुई जिस प्रकृति द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया जाता है उस को तू मेरी परा प्रकृति जान अर्थात् उसे मेरी आत्मरूपा उत्तम और शुद्ध प्रकृति जान।

इन्ही आठो भेदों की जो साम्यावस्था है, वो ही परम प्रकृति है। जिसे हम जीव के नाम से भी जानते है एवम जो इस अचेतन शरीर को चेतन कर के गति आदि देती है। यही मन को शोक, मोह आदि विकारों का भास कराती है। किंबहुना, बुद्धि में जो जानने की शक्ति है, वह भी इस माया के सानिध्य का ही परिणाम है और इसी से उत्पन्न होने वाले अहंकार ने जगत का अस्तित्व बनाये रखा है।

पूर्व श्लोक में वर्णित अष्टधा अपरा प्रकृति तो कार्य प्रकृति है जो प्रकृति की विकृति है। परंतु इस से भिन्न मेरी दूसरी परा प्रकृति है जिसे हम पुरुष, मुला या जीव भी कहते है यही अष्टधा प्रकृति के रूप में परिणामिनी हो कर जगत की उत्पत्ति करती है। इसी के आश्रय यह संसार खड़ा हुआ है इसी के संबंध से चेतन की जीव संज्ञा हुई है अर्थात सुषुप्ति अवस्था मे जो प्रकृति है वह परा अथवा मुला प्रकृति कहलाती है और संसार का परिणामी उपादान या बीज है। वही जाग्रत एवम स्वप्न अवस्था मे परिणित होती है, तब अष्टधा अपरा प्रकृति के रूप में परिणित हो कर ही संसार को उत्पन्न करती है।

सांख्य में परा एवम अपरा प्रकृति दोनो स्वतंत्र एवम नित्य कहा गया है, किन्तु वेदान्त दोनो को परब्रह्म का ही स्वरूप मानता है।

अहंकार दो प्रकार का होता है--(1) 'अहं-अहं' कर के अन्तःकरण की वृत्ति का नाम भी अहंकार है, जो कि करण रूप है। यह हुई 'अपरा प्रकृति', जिस का वर्णन यहाँ चौथे श्लोक में हुआ है और (2) 'अहम्रू'-पसे व्यक्तित्व, एकदेशीयता का नाम भी अहंकार है, जो कि कर्तारूप है अर्थात् अपने को क्रियाओं का करने वाला मानता है। यह हुई 'परा प्रकृति', जिस का वर्णन यहाँ पाँचवें श्लोकमें हुआ है। यह अहंकार कारण शरीर में तादात्म्यरूप से रहता है। इस तादात्म्य में एक जड- अंश है और एक चेतन-अंश है। इस में जो जड- अंश है, वह कारण- शरीर है और उस में जो अभिमान करता है, वह चेतन- अंश है। जब तक बोध नहीं होता, तब तक यह जड- चेतन के तादात्म्यवाला कारण- शरीर का 'अहम्' कर्तारूप से निरन्तर बना रहता है। सुषुप्ति के समय यह सुप्तरूप से रहता है अर्थात् प्रकट नहीं होता। नींद से जगने पर 'मैं सोया था,अब जाग्रत् हुआ हूँ 'इस प्रकार 'अहम्' की जागृति होती है। इस के बाद मन और बुद्धि जाग्रत् होते हैं; जैसे-मैं कहाँ हूँ, कैसे हूँ-यह मन की जागृति हुई और मैं इस देश में, इस समय में हूँ--ऐसा निश्चय होना बुद्धि की जागृति हुई। इस प्रकार नींद से जगने पर जिस का अनुभव होता है, वह 'अहम्' परा प्रकृति है और वृत्तिरूप जो अहंकार है, वह अपरा प्रकृति है। इस अपरा प्रकृति को प्रकाशित करनेवाला और आश्रय देनेवाला चेतन जब अपरा प्रकृति को अपनी मान लेता है तब वह जीवरूप परा प्रकृति होती है--'ययेदं धार्यते जगत्।'

वेदांत के अनुसार चेतना के दो वर्ग होते हैं, सार्वभौमिक और व्यक्तिगत। परम पुरुष भगवान, ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं के प्रति चेतन होते हैं, जबकि जीव केवल स्वयं के बारे में चेतन होता है। चेतना का अस्तित्व अभौतिक है। श्रीमद्भागवतम् के सांख्य दर्शन स्कन्ध 3, अध्याय 26) में व्याख्या की गई है कि अति सूक्ष्म चेतना की उपस्थिति द्वारा जीवन कण आत्मा के लक्षणों का विवेचन किया जाता है और यह अलग क्षेत्र में रहती है। भगवतगीता (15.7) में हम पाते हैं ममैवांशो जीवलोके जीवभूत- सनातन:अर्थात सभी जीव परम पुरुष भगवान के नित्य और चेतन अंश हैं। शुद्ध आध्यात्मिक अवस्था में जीव आध्यात्मिक है और उनके शरीर तीन आध्यात्मिक तत्वों से निर्मित है जिससे भगवान का आध्यात्मिक शरीर भी बना है। किंतु भगवान और जीव में यह अंतर है कि परम भगवान की चेतना सर्वव्यापी है जबकि जीव की चेतना अति सीमित है। श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती ठाकुर के शब्दों में, भगवान अद्वेय व अनंत हैं और जीवात्मा अति सूक्ष्म है। दूसरे शब्दों में जीवात्मा में परम भगवान के समान आध्यात्मिक गुण होते हैं। परंतु जीव की क्षमता सीमित होती है जबकि भगवान की क्षमता असीमित होती है।

अगर यह परा प्रकृति अपरा प्रकृति से विमुख होकर परमात्मा के ही सम्मुख हो जाय, परमात्मा को ही अपना माने और अपरा प्रकृति को कभी भी अपना न माने अर्थात् अपरा प्रकृति से सर्वथा सम्बन्धरहित होकर निर्लिप्तता का अनुभव कर ले तो इस को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है। स्वरूप का बोध हो जाने पर परमात्मा का प्रेम प्रकट हो जाता है, जो कि पहले अपरा प्रकृति से सम्बन्ध रखने से आसक्ति और कामना के रूप में था। वह प्रेम अनन्त, अगाध, असीम, आनन्दरूप और प्रतिक्षण वर्धमान है।

उपरोक्त दो श्लोकों में अपरा एवम परा प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण संसार की परमात्मा ने एक ही सूत्र में बांट दिया। प्रकृति का जड़ या चेतन सभी स्वरूप परमात्मा का ही है। **परमात्मा का ही अंश परा प्रकृति के रूप में अपरा के साथ है किंतु जिसे दृष्टा होना चाहिये था वो अहम एवम कामना में ग्रसित हो कर परा प्रकृति के रूप में है। जो प्रकृति की हर क्रिया का साक्षी मात्र है वो ही अहम एवम कामना के कारण कर्मबन्धन में स्वयं की कर्ता मान बैठा है।** सम्पूर्ण जगत का इस से सुंदर और सम्पूर्ण वर्णन हो ही नही सकता।

प्रत्येक मनुष्य का भिन्नभिन्न स्वभाव होता है। जैसे स्वभाव को मनुष्य से अलग सिद्ध नहीं कर सकते ऐसे ही परमात्मा की प्रकृति को परमात्मा से अलग (स्वतन्त्र) सिद्ध नहीं कर सकते। यह प्रकृति प्रभु का ही एक स्वभाव है इसलिये इसका नाम प्रकृति है। इसी प्रकार परमात्मा का अंश होने से जीव को परमात्मा से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि यह परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा का स्वरूप होने पर भी केवल अपरा प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ने के कारण इस जीवात्मा को प्रकृति कहा गया है। अपरा प्रकृति के सम्बन्ध से अपने में कृति (करना) माननेके कारण ही यह जीवरूप है। अगर यह अपनेमें कृति न माने तो यह परमात्मस्वरूप ही है फिर इसकी जीव या प्रकृति संज्ञा नहीं रहती अर्थात् इसमें बन्धनकारक कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रहता। वास्तव में मूल प्रकृति कभी किसी की बाधक या साधक (सहायक) नहीं होती। जब साधक उस से अपना सम्बन्ध नहीं मानता तब तो वह सहायक हो जाती है पर जब वह उस से अपना सम्बन्ध मान लेता है तब वह बाधक हो जाती है क्योंकि प्रकृति के साथ सम्बन्ध मानने से व्यष्टि अहंता (मैंपन) पैदा होती है।

केवल इस परा प्रकृति जीव ने इस को जगत्रूप से धारण कर रखा है अर्थात् जीव इस संसार की स्वतन्त्र सत्ता मानकर अपने सुख के लिये इस का उपयोग करने लग गया। इसी से जीव का बन्धन हुआ है। अगर जीव संसार की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर इस को केवल भगवत्स्वरूप ही माने तो उस का जन्ममरणरूप बन्धन मिट जायगा।भगवान् की परा प्रकृति होकर भी जीवात्मा ने इस दृश्यमान जगत् को जो कि अपरा प्रकृति है धारण कर रखा है अर्थात् इस परिवर्तनशील विकारी जगत् को स्थायी सुन्दर और सुखप्रद मानकर मैं और मेरे रूप से धारण कर रखा है। जिस की भोगों और पदार्थों में जितनी आसक्ति है आकर्षण है उस को उतना ही संसार और शरीर स्थायी सुन्दर और सुखप्रद मालूम देता है। पदार्थोंका संग्रह तथा उनका उपभोग करने की लालसा ही खास बाधक है। संग्रह से अभिमानजन्य सुख होता है और भोगों से संयोगजन्य सुख होता है। इस सुखासक्ति से ही जीव ने जगत् को जगत्रूप से धारण कर रखा है। सुखासक्ति के कारण ही वह इस जगत् को भगवत्स्वरूप से नहीं देख सकता। जैसे स्त्री वास्तव में जननशक्ति है परन्तु स्त्री में आसक्त पुरुष स्त्री को मातृरूप से नहीं देख सकता ऐसे ही संसार वास्तव में भगवत्स्वरूप है परंतु संसार को अपना भोग्य मानने वाला भोगासक्त पुरुष संसार को भगवत्स्वरूप नहीं देख सकता। यह भोगासक्ति ही जगत् को धारण कराती है अर्थात् जगत् को धारण कराने में हेतु है। दूसरी बात मात्र मनुष्यों के शरीरों की उत्पत्ति रजवीर्य से ही होती है जो कि स्वरूप से स्वतः ही मलिन है। परंतु भोगों में आसक्त पुरुषों की उन शरीरों में मलिन बुद्धि नहीं होती प्रत्युत रमणीय बुद्धि होती है। यह रमणीय बुद्धि ही जगत् को धारण कराती है।

पूर्वश्लोक में भगवान् ने कहा कि परा प्रकृति ने अपरा प्रकृति को धारण कर रखा है। उसी का स्पष्टीकरण अब आगे के श्लोक में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.05 ।।

।। चेतना शक्ति ।। विशेष - 07.05 ।।

चेतना कुछ जीवधारियों में स्वयं के और अपने आसपास के वातावरण के तत्वों का बोध होने, उन्हें समझने तथा उनकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है। विज्ञान के अनुसार चेतना वह

अनुभूति है जो मस्तिष्क में पहुँचनेवाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होती है। इन आवेगों का अर्थ तुरंत अथवा बाद में लगाया जाता है।

चेतना मन के भीतर आंतरिक, या भौतिक या संवेदी दुनिया के भीतर किसी बाहरी चीज के प्रति जागरूक होने की स्थिति है। इसे किसी व्यक्ति की अपने विचारों, भावनाओं, संवेदी अनुभवों और पर्यावरण के प्रति अद्वितीय जागरूकता (अक्सर एक साथ) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यद्यपि इसे परिभाषित करना एक कठिन शब्द हो सकता है, दार्शनिक आमतौर पर इस बात से सहमत हैं कि अधिकांश लोगों को चेतना की स्थिति की सहज समझ होती है।

योग में, यह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है क्योंकि प्राचीन योगियों का मानना था कि ब्रह्मांड एक सर्वोच्च चेतना से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार चेतना को भी ईश्वर माना जाता है।

चेतना का विषय

मूलत: भारतीय वेदों, दर्शनों, शास्त्रों इत्यादि में बताई, समझाई गई आध्यात्मिकता से जुडा है, इसलिए चेतना को इसी वैदिक,धार्मिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है, ना कि पाश्चात्य विचारको के मन्तव्यों पर. संक्षेप में कहें तो चेतना सारे ब्रह्माण्ड में जो व्याप्त परम शक्ति है, कुदरत से बनी हर वस्तु में जो स्पंदित है - पंच महाभूत, छोटे से छोटे जीव से ले कर जानवर, पेड़, पौधे, नदी, समंदर, मनुष्य, हर कुदरती वस्तु, अंतरिक्ष में घूमते विशालकाय, बृहद ग्रहों नक्षत्रों इत्यादि सभी में जो स्पंदित हैं। इसी चेतना के कारण पृथ्वि के उपर समंदर के भीतर का जीवन और समस्त अंतरिक्ष भी जीवंत है। जैसे विद्‌युत् शक्ति (electricity) के बिना कोई उपकरण नहीं चल सकता, उसी तरह बिना चेतना के कुछ भी संभव ही नहीं - कोई अस्तित्व संभव ही नहीं।

चेतना न तो कोई जड़ पदार्थ है और न ही कोई ऊर्जा। जड़ पदार्थ या ऊर्जा में परिवर्तन होता ही रहता है किंतु जिसे चेतना कहा गया है, वह अपरा प्रकृति के संचालन का दृष्टा होता है, वह स्वयं में कुछ भी नही करता है। इसलिये यह जीव में किस भाग में स्थित है, कहा नही गया है। क्योंकि इस को शरीर रूपी रथ का स्वामित्व प्राप्त है इसलिये यह भ्रमित हो कर स्वयं को कर्ता एवम भोक्ता समझता है। सभी ग्रन्थ इसी चेतन को अपने यथा स्वरूप को पहचान करने एवम परब्रह्म से जुड़ने का ज्ञान देते है।

इसीलिए, चेतना को समझने के लिए भारतीय वेदों और दर्शन शास्त्रों को, इस भारत भूमी की हजारों सालों से जीवंत संस्कृति को भी समझना आवश्यक है, केवल पाश्चात्य विचार धारा से चेतना को समझना नामुमकिन सा होगा।

चेतना का स्थान

बहुत पुराने काल से प्रमस्तिष्क प्रांतस्था (cerebral cortex) चेतना की मुख्य इंद्रिय, अथवा प्रमुख स्थान, माना गया है। इसमें से भी पूर्वललाट के क्षेत्र को विशेष महत्व दिया गया है। परंतु पेनफील्ड और यास्पर्स चेतना को नए तरीके से ही समझाते हैं। उनके मतानुसार चेतना का स्थान चेतक (thalamus), अधश्चेतक (hypothalamus) और ऊपरी मस्तिष्क के ऊपरी भाग के आसपास है। वे लोग मस्तिष्क के इन भागों को और उनके संयोजनों को स्नायुओं के संगठन का सर्वोच्च स्तर मानते हैं। पूर्व ललाट क्षेत्र

तथा अधश्चेतक के बीच बहिर्गामी नाड़ियों द्वारा संयोजन है। संयोजन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष है। परोक्ष संयोजन पृष्ठ केंद्रक के द्वारा होता है। इन नाड़ियों का संबंध पौंस (Pons) से भी है।

चेतना मनुष्य की वह विशेषता है जो उसे जीवित रखती है और जो उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। इसी ज्ञान को विचारशक्ति (बुद्धि) कहा जाता है। यही विशेषता मनुष्य में ऐसे काम करती है जिसके कारण वह जीवित प्राणी समझा जाता है। मनुष्य अपनी कोई भी शारीरिक क्रिया तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसको यह ज्ञान पहले न हो कि वह उस क्रिया को कर सकेगा। कोई भी मनुष्य किसी विघातक पदार्थ अथवा घटना से बचने के लिए अपने किसी अंग को तब तक नहीं हिला सकता, जब तक कि उसको यह ज्ञान न हो कि कोई घातक पदार्थ उसके सामने है और उससे बचने के लिए वह अपने अंगों को काम में ला सकता है। उदाहरणार्थ, हम एक ऐसे मनुष्य के बारे में सोच सकते हैं जो नदी की ओर जा रहा है। यदि वह चलते-चलते नदी तक पहुँच जाता है और नदी में घुस जाता है तो वह डूबकर मर जाएगा। वह अपना चलना तब तक नहीं रोक सकता और नदी में घुसने से अपने को तब तक नहीं बचा सकता जब तक कि उसकी चेतना में यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि उसके समने नदी है और वह जमीन पर तो चल सकता है, परंतु पानी पर नहीं चल सकता। मनुष्य की सभी क्रियाओं पर उपर्युक्त नियम लागू होता है चाहे, ये क्रियाएँ पहले कभी हुई हों अथवा भविष्य में कभी हों। मनुष्य केवल चेतना से उत्पन्न प्रेरणा के कारण कोई काम कर सकता है।

आत्मा (आत्मा) और चेतना (चेतना) के बीच क्या अंतर है? यदि आत्मा और चेतना अलग-अलग इकाई हैं तो इसकी अंतिम अवस्था क्या है?

आत्मा और चेतना में कोई अंतर नहीं है। आत्मा ईश्वर की चेतना का एक सूक्ष्म कण है।

चेतना के छह चरण हैं - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय और आनंदमय।

अन्नमय तब होता है जब चेतना पूरी तरह से पोषण पर केंद्रित होती है, खाने पर केंद्रित होती है। यह शिशु अवस्था में एक इंसान की तरह है। ध्यान दें कि बच्चे हर चीज़ को चखकर कैसे पहचानते हैं। वे हमेशा चीजें अपने मुंह में रखते हैं।

प्राणमय वह है जब चेतना किसी के शरीर के प्रति जागरूक हो जाती है। वह शिशु-अवस्था की तरह है। इसके अलावा, जानवर चेतना के उस चरण से आगे नहीं बढ़ते हैं।

मनोमय तब होता है जब चेतना मन के प्रति जागरूक हो जाती है। यह किशोरावस्था की अवस्था की तरह है।

ज्ञानमय वह चरण है जहां व्यक्ति मन की सोच, भावना और इच्छुक प्रक्रियाओं के प्रति सचेत हो जाता है।

विज्ञानमय तब होता है जब चेतना आत्मा के प्रति जागरूक हो जाती है, अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति जागरूक हो जाती है। यह जागरूकता की वयस्क अवस्था की तरह है। यहीं पर चेतना शरीर और अपनी संस्कृति से परे अपने वास्तविक, आध्यात्मिक स्व के प्रति जागरूक हो जाती है।

आनंदमय तब होता है जब चेतना ईश्वर और उसके बाद आने वाले आनंद के प्रति जागरूक हो जाती है। यह चेतना की उच्चतम अवस्था है, और मानव चेतना का लक्ष्य है।

यह आत्मा के लिए ईश्वर के प्रति जागरूक होने का एक अत्यंत दुर्लभ अवसर है, ईश्वर को इतनी अच्छी तरह से जानने की तो बात ही क्या करें कि वह उससे प्रेम कर सके।

चेतना और चरित्र

चेतना और मनुष्य के चरित्र में मौलिक संबंध है। चेतना वह विशेष गुण है जो मनुष्य को जीवित बनाती है और चरित्र उसका वह संपूर्ण संगठन है जिसके द्वारा उसके जीवित रहने की वास्तविकता व्यक्त होती है तथा जिसके द्वारा जीवन के विभिन्न कार्य चलाए जाते हैं।

किसी मनुष्य की चेतना और चरित्र केवल उसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होते। ये बहुत दिनों के सामाजिक प्रक्रम के परिणाम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने वंशानुक्रम को स्वयं में प्रस्तुत करता है। वह विशेष प्रकार के संस्कार पैत्रिक संपत्ति के रूप में पाता है। वह इतिहास को भी स्वयं में निरूपित करता है, क्योंकि उसने विभिन्न प्रकार की शिक्षा तथा प्रशिक्षण को जीवन में पाया है। इसके अतिरिक्त वह दूसरे लोगों को भी अपने द्वारा निरूपित करता है, क्योंकि उनका प्रभाव उसके जीवन पर उनके उदाहरण, उपदेश तथा अवपीड़न के द्वारा पड़ा है।

जब एक बार मनुष्य की चेतना विकसित हो जाती है, तब उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता चली जाती है। वह ऐसी अवस्था में भी विभिन्न प्रेरणाओं (आवेगों) और भीतरी प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है, परंतु वह उन्हें स्वतंत्रता से प्रकाशित नहीं कर सकता। वह या तो उन्हें इसलिए सर्वथा दबा देता है जिस से कि समाज के दूसरे लोगों की आवश्यकताओं और इच्छाओं में वे बाधक न बनें, अथवा उन्हें इस प्रकार चपेट दिया जाता है, या कृत्रिम बनाया जाता है, जिसमें उनका प्रकाशन समाजविरोधी न हो।

इस प्रकार मनुष्य की चेतना अथवा विवेकी मन उसके अवचेतन, अथवा प्राकृतिक, मन पर अपना नियंत्रण रखता है। मनुष्य और पशु में यही विशेष भेद है। पशुओं के जीवन में इस प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता, अतएव जैसा वे चाहते हैं वैसा करते हैं। मनुष्य चेतनायुक्त प्राणी है, अतएव कोई भी क्रिया करने के पहले वह उसके परिणाम के बारे में भली प्रकार सोच लेता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना

मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते, समझते और अनेक विषय पर चिंतन करते हैं। इसी के कारण हमें सुख-दु:ख की अनुभूति भी होती है और हम इसी के कारण अनेक प्रकार के निश्चय करते तथा अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं।

मानव चेतना की तीन विशेषताएँ हैं।

वह ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक होती है। भारतीय दार्शनिकों ने इसे सच्चिदानंद रूप कहा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विचारों से उक्त निरोपज्ञा की पुष्टि होती है। चेतना वह तत्व है जिसमें ज्ञान

की, भाव की और व्यक्ति, अर्थात् क्रियाशीलता की अनुभूति है। जब हम किसी पदार्थ को जानते हैं, तो उसके स्वरूप का ज्ञान हमें होता है, उसके प्रति प्रिय अथवा अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति इच्छा पैदा होती है, जिसके कारण या तो हम उसे अपने समीप लाते अथवा उसे अपने से दूर हटाते हैं।

चेतना को दर्शन में स्वयंप्रकाश तत्व माना गया है। मनोविज्ञान अभी तक चेतना के स्वरूप में आगे नहीं बढ़ सका है। चेतना ही सभी पदार्थो को, जड़ चेतन, शरीर मन, निर्जीव जीवित, मस्तिष्क स्नायु आदि को बनाती है, उनका स्वरूप निरूपित करती है। फिर चेतना को इनके द्वारा समझाने की चेष्टा करना अविचार है। मेगडूगल महाशय के कथनानुसार जिस प्रकार भौतिक विज्ञान की अपनी ही सोचने की विधियाँ और विशेष प्रकार के प्रदत्त हैं उसी प्रकार चेतना के विषय में चिंतन करने की अपनी ही विधियाँ और प्रदत्त हैं। अतएव चेतना के विषय में भौतिक विज्ञान की विधियों से न तो सोचा जा सकता है और न उसके प्रदत्त इसके काम में आ सकते हैं। फिर भौतिक विज्ञान स्वयं अपनी उन अंतिम इकाइयों के स्वरूप के विषय में निश्चित मत प्रकाशित नहीं कर पाया है जो उस विज्ञान के आधार हैं। पदार्थ, शक्ति, गति आदि के विषय में अभी तक कामचलाऊ जानकारी हो सकी है। अभी तक उनके स्वरूप के विषय में अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। अतएव चेतना के विषय में अंतिम निर्णय की आशा कर लेना युक्तिसंगत नहीं है। चेतना को अचेतन तत्व के द्वारा समझाना, अर्थात् उसमें कार्य-कारण संबंध जोड़ना सर्वथा अविवेकपूर्ण है।

चेतना को जिन मनोवैज्ञानिकों ने जड़ पदार्थ की क्रियाओं के परिणाम के रूप में समझाने की चेष्टा की है अर्थात् जिन्होंने इसे शारीरिक क्रियाओं, स्नायुओं के स्पंदन आदि का परिणाम माना है, उन्होंने चेतना की उपस्थिति को ही समाप्त कर दिया है। उन्होंने चेतना की उपस्थिति को ही समाप्त कर दिया है। पैवलाफ और वाटसन महोदय के चिंतन का यही परिणाम हुआ है। उनके कथनानुसार मन अथवा चेतना के विषय में मनोविज्ञान में सोचना ही व्यर्थ है। मनोविज्ञान का विषय मनुष्य का दृश्यमान व्यवहार ही होना चाहिए।

चेतना के शरीर में संबंध के विषय में मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। कुछ के अनुसार मनुष्य के बृहत् मस्तिष्क में होनेवाली क्रियाओं, अर्थात् कुछ नाड़ियों के स्पंदन का परिणाम ही चेतना है। यह अपने में स्वतंत्र कोई तत्व नहीं है। दूसरों के अनुसार चेतना स्वयं तत्व है और उसका शरीर से आपसी संबंध है, अर्थात् चेतना में होनेवाली क्रियाएँ शरीर को प्रभावित करती हैं। कभी-कभी चेतना की क्रियाओं से शरीर प्रभावित नहीं होता और कभी शरीर की क्रियाओं से चेतना प्रभावित नहीं होती। एक मत के अनुसार शरीर चेतना के कार्य करने का यंत्र मात्र हैं, जिसे वह कभी उपयोग में लाती है और कभी नहीं लाती। परंतु यदि यंत्र बिगड़ जाए, अथवा टूट जाए, तो चेतना अपने कामों के लिए अपंग हो जाती है। कुछ गंभीर मनोवैज्ञानिक विचारकों द्वारा विज्ञान की वर्तमान प्रगति की अवस्था में उपर्युक्त मत ही सर्वोत्तम माना गया है।

चेतना के स्तर

चेतना के तीन स्तर माने गए हैं : चेतन, अवचेतन और अचेतन। चेतन स्तर पर वे सभी बातें रहती हैं जिनके द्वारा हम सोचते समझते और कार्य करते हैं। चेतना में ही मनुष्य का अहंभाव रहता है और यहीं विचारों का संगठन होता है। अवचेतन स्तर में वे बातें रहती हैं जिनका ज्ञान हमें तत्क्षण नहीं रहता, परंतु समय पर याद की जा सकती हैं। अचेतन स्तर में वे बातें रहती हैं जो हम भूल चुके हैं और जो हमारे यत्न

करने पर भी हमें याद नहीं आतीं और विशेष प्रक्रिया से जिन्हें याद कराया जाता है। जो अनुभूतियाँ एक बार चेतना में रहती हैं, वे ही कभी अवचेतन और अचेतन मन में चली जाती हैं। ये अनुभूतियाँ सर्वथा निष्क्रिय नहीं होतीं, वरन् मानव को अनजाने ही प्रभावित करती रहती हैं।

चेतना का विकास

चेतना सामाजिक वातावरण के संपर्क से विकसित होती है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता, औचित्य और व्यवहारकुशलता प्राप्त करता है। इसे चेतना का विकास कहा जाता है। विकास की चरम सीमा में चेतना निज स्वतंत्रता की अनुभूति करती है। वह सामाजिक बातों को प्रभावित कर सकती है और उनसे प्रभावित होती है, परंतु इस प्रभाव से अपने आपको अलग भी कर सकती है। चेतना को इस प्रकार की अनुभूति को शुद्ध चैतन्य अथवा प्रमाता, आत्मा आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है। इसकी चर्चा चाल्र्स युंग, स्पेंग्ल, विलियम ब्राउन आदि विद्वानों ने की है। इसे देशकाल की सीमा के बाहर माना गया है।

स्वामी क्रियानंद जैसे कुछ योग दार्शनिकों का मानना है कि चेतना पूर्ण या शुद्धतम अवस्था है। पदार्थ को स्पंदनशील ऊर्जा की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है; और वह ऊर्जा ही चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में देखी जाती है। इस अर्थ में, यह कहा जाता है कि चेतना को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि एक बार जब वह हो जाती है, तो वह शुद्ध नहीं रहती।

योगाभ्यास, जैसे कि माइंडफुलनेस और ध्यान, अभ्यासकर्ताओं को आत्मनिरीक्षण, या मन की परीक्षा के माध्यम से चेतना की प्रकृति का पता लगाने और समझने की अनुमति देते हैं। चेतना को बेहतर ढंग से समझने के लिए, अभ्यासकर्ता अपना ध्यान उन चीज़ों से हटाकर अपनी जागरूकता के साधन पर केंद्रित करता है, जो स्वयं चेतना है।

कई योगियों का मानना है कि व्यक्तिगत चेतना की स्थिति सामूहिक सार्वभौमिक चेतना का एक हिस्सा है, जैसे लहर एक महासागर का हिस्सा है। इस अर्थ में, चेतना वह है जो सभी प्राणियों और चीजों को जोड़ती है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 07.05 विशेष ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.6॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

"etad-yonīni bhūtāni,
sarvāṇīty upadhāraya..।
ahaḿ kṛtsnasya jagataḥ,
prabhavaḥ pralayas tathā"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! तू मेरी इन जड़ तथा चेतन प्रकृतियों को ही सभी प्राणीयों के जन्म का कारण समझ, और मैं ही इस सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय का मूल कारण हूँ। (६)

Meaning:

Both these are the wombs of all beings, understand this. I am the source as well as the dissolution of the entire universe.

Explanation:

Having described both his lower and higher nature, Shri Krishna says both those natures combine to create everything in this universe. This creation is described poetically as the "womb" from which everything originates. The lower nature and higher nature are both needed to create this universe. Furthermore, everything that is created is also sustained and ultimately dissolved into Ishvara. In other words, Ishvara creates, maintains and dissolves the entire universe.

The entire creation is a manifestation of God's energies. One cycle of creation lasts for 100 years of Brahma. Then the Supreme Lord starts the process of dissolution. The five gross elements merge into five subtle elements, which in turn merge into ahankār. Ahankār goes back into mahān, which again unites with prakṛiti. Prakṛiti now resides inside the body of Maha Vishnu (another form of the Supreme Lord). All the materially bound souls, which could not get liberated during this cycle of creation, also reside in God's body. They remain unmanifested, waiting for the next cycle of creation.

Let us now understand the deeper meaning of this shloka. But before we proceed, let us first understand what is meant by cause and effect. When we hold a piece of cloth, what do we see? We see its color, its texture, its shape and so on. But if were to go back in time, we would see that cloth come from cotton threads, which came from a cotton plant, which came from a cotton seed, which at some point came from the earth. So the cause of the cloth was the earth, and the effect is the cloth.

Unfortunately, our minds have been conditioned to focus on the effect, and not on the cause. We see the cloth and its attributes, but do not even think about

the cause, because that requires our intellect to come into the picture. Most economic, social, and political movements tend to fail because they only focus on the symptoms and not the cause. For example, imprisoning small- time drug dealers do not stop the drug trade, because the demand for drugs will push some other person into dealing drugs.

Now let us look at this shloka from the standpoint of cause and effect. If we were to trace the ultimate cause of anything in this universe, it eventually comes back to Ishvara's lower and higher natures. Therefore, Shri Krishna is asserting the fact that Ishvara is everywhere. Even though our eyes cannot see the form of a deity in front of us, our intellect will tell us that the ultimate cause is Ishvara. Our eyes give us jnyaanam or knowledge of the effect, our intellect provides us with vijnyaanam, which is the vision of the cause.

Krishna wants to say that the whole creation is a mixture of parāprakr̥ti, the experiencer and aparā prakr̥ti; the experienced; parā prakr̥ti the observer and aparā prakr̥ti the observed; this is the creation.

In mythology, this intellectual vision is depicted as the "third eye" of Lord Shiva that turns everything into ashes. This eye is a metaphor for developing equanimity of vision. If we learn to behold Ishvara as the cause of every object that we see, we will automatically begin to see Ishvara everywhere. So therefore, this shloka urges us to exercise our intellect so that we can see Ishvara everywhere.

When God decides to create, the entire cycle begins all over again (as explained in verse 7.4), and a new world comes into existence. Therefore, God is the source, the sustainer, and the resting place for the entire creation.

Seeing Ishvara in everything is a huge milestone in the spiritual path. What is the next milestone?

।। हिंदी समीक्षा ।।

संपूर्ण सृष्टि का सृजन आधार वह एक ही है, इसलिए संपूर्ण ब्रह्मांड से ले कर देवी, देवता, मनुष्य, यक्ष, असुर, गंधर्व, स्वर्ग, नर्क, चंद्र लोक, सौर मंडल, पृथ्वी, नदी, समुंद्र, पहाड़, मनुष्य, पशु पक्षी आदि दृश्य और अदृश्य संपूर्ण का आधार वह एक ही है, जिस को जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। इस को पूर्व के दो श्लोक में अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के रूप में परब्रह्म से हम ने पढ़ा। भगवान श्री कृष्ण कहते है कि सभी जड़ पदार्थ की उत्पत्ति अष्टधा प्रकृति से, जिसे अपरा प्रकृति कहा गया है,

उसे भगवान श्री कृष्ण ने अपनी निकृष्ट रचना भी कहा गया है एवम परा प्रकृति में अपने ही अंश चेतन स्वरूप को कहा है जो इस का भोक्ता है, हुई है। प्रकृति और जीव यह दो सांख्य में सृष्टि रचना का सिंद्धान्त है। किंतु सांख्य प्रत्येक जीव को स्वतंत्र इकाई कहता है, इसलिए इस मे जीव अगिनत होने से वेदान्त ने माना कि सब जीव और प्रकृति एक ही ब्रह्म के स्वरूप है, इस प्रकार जीव के अनगिनत स्वरूप को वेदान्त ने यह ब्रह्म से पिरोया है। गीता ने भी अद्वैत वेदान्त के सिंद्धान्त को स्वीकार करते हुए, प्रकृति एवम ब्रह्म को भी एक स्वरुप परब्रह्म से उत्पन्न बताया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि के उत्पन्न होने से ले कर चलायमान एवम प्रलय तक का एक ही कारक परब्रह्म कहा गया है।

हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि ऊर्जा जड़ प्रकृति का भाग है, वह चेतन नही। ऊर्जा प्रकृति के नियमो से उत्पन्न होती है। शरीर की ऊर्जा, भोजन, पानी एवम वायु की निश्चित प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। बिजली मोटर से घूमने से उत्पन्न होती है।

भगवान श्री कृष्ण कहते है कि यह सम्पूर्ण जगत पृथ्वी से ब्रह्मांड तक, प्रत्येक जड़ एवम चेतन इन महाप्रकृतियो अर्थात परा एवम अपरा प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले है। यह दोनों ही एक मात्र योनि है अतः मैं ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति एवम प्रलय रूप हूँ अर्थात जगत की उत्पत्ति एवम विलय भी मुझ में है। यह आज की बिग बैंग के सिंद्धान्त के अनुरूप ही है, जो इस पर अनुसंधान कर रहा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड आज भी विस्तार कर रहा है एवम इस की उत्पत्ति एक परमाणु से हुई है।

मैं ही इस जगत् का निमित्त कारण हूँ क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि मेरे संकल्प से पैदा हुई है। जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार और सोने के आभूषण बनाने में सुनार ही निमित्त कारण है ऐसे ही संसार मात्र की उत्पत्ति में भगवान् ही निमित्त कारण हैं। प्रलयः कहने का तात्पर्य है कि इस जगत् का उपादान कारण भी मैं ही हूँ क्योंकि कार्य मात्र उपादान कारण से उत्पन्न होता है उपादान कारण रूप से ही रहता है और अन्त में उपादान कारण में ही लीन हो जाता है। जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी उपादान कारण है ऐसे ही सृष्टि की रचना करने में भगवान् ही उपादान कारण हैं। जैसे घड़ा मिट्टी से ही पैदा होता है मिट्टी रूप ही रहता है और अन्त में टूट कर के घिसते घिसते मिट्टी ही बन जाता है और जैसे सोने के यावन्मात्र आभूषण सोने से ही उत्पन्न होते हैं सोना रूप ही रहते हैं और अन्त में सोना ही रह जाते हैं ऐसे ही यह संसार भगवान् से ही उत्पन्न होता है भगवान् में ही रहता है और अन्त में भगवान् में ही लीन हो जाता है। ऐसा जानना ही ज्ञान है। सब कुछ भगवत्स्वरूप है। भगवान् के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं ऐसा अनुभव हो जाना विज्ञान है। भगवान् ने अपने को जड चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय बताया है। इस में जड (अपरा प्रकृति) का प्रभव और प्रलय बताना तो ठीक है पर चेतन (परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा) का उत्पत्ति और विनाश कैसे हुआ क्योंकि वह तो नित्य तत्त्व है जो परिवर्तनशील है उस को जगत् कहते हैं गच्छतीति जगत्। पर यहाँ जगत् शब्द जड चेतनात्मक सम्पूर्ण संसार का वाचक है। इस में जड अंश तो परिवर्तनशील है और चेतन अंश सदा सर्वथा परिवर्तन रहित तथा निर्विकार है। वह निर्विकार तत्त्व जब जड के साथ अपना सम्बन्ध मानकर तादात्म्य कर लेता है तब वह जड (शरीर) के उत्पत्ति विनाशक को अपना उत्पत्ति विनाश मान लेता है। इसी से उस के जन्म मरण कहे जाते हैं। इसीलिये भगवान् ने अपने को सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अपरा और परा प्रकृति का भाव तथा प्रलय बताया है।

प्रकृति को दो भागों में जिसे हम जड़-चेतन या अपरा एवम परा या ज्ञान - विज्ञान के नाम से बांटने के बाद दोनों को परमात्मा में अपने मे समेट लिया। जितने ही प्रकृतित्व तत्व है वो समस्त जल, थल, वायु, अग्नि एवम आकाश से निमित विभिन्न रुप एवम आकार में है एवम इन साम्यवाद स्वरूप में मन बुद्धि एवम अहंकार के साथ चेतन स्वरूप है वो भी परमात्मा का ही स्वरूप है। अतः जन्म से मृत्यु तक, निर्माण से विनाश तक, उत्पत्ति से विकास एवम विनाश तक सभी उसी परमात्मा से नियमित है।

परमात्मा को मानव अवतार में हम कृष्ण, राम या अन्य देवता के रूप में देखते है, इसी प्रकार प्रकृति के मायाधिपति के रूप में ईश्वर को ब्रह्मांड के संचालन कर्ता के रूप में देखते है और अंत में परमात्मा को नित्य, अकर्ता और साक्षी स्वरूप में परब्रह्म अर्थात चेतन्य को पढ़ते है। यही निर्गुण और निराकार परब्रह्म ही संपूर्ण सृष्टि का आधार है, जो लाखो में कोई एक मनुष्य जान पाता है। पुस्तकीय ज्ञान से इस को जानना अत्यंत कठिन है किंतु इस को समझना व्यक्तिगत अनुभव एवम तप है।

ज्ञान - विज्ञान का यह श्लोक हमे तैयार कर रहा है कि हम जो सोचते है, करते है बोलते है देखते है एवम सुनते है वो सब परमात्मा ही है। गीता में पूर्व में एकतत्व एवम समतत्व भाव के लिये अर्जुन को भगवान से निष्काम कर्मयोग से ध्यान द्वारा प्राप्त करने को कहा था, उस का आशय यही थी कि सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति एवम प्रलय का कारण या कर्ता स्वयं परब्रह्म ही है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.06।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.7॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"mattaḥ parataraḿ nānyat,
kiñcid asti dhanañjaya..।
mayi sarvam idaḿ protaḿ,
sūtre maṇi-gaṇā iva"..।।

भावार्थ:

हे धनंजय! मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, जिस प्रकार माला में मोती धागे पर आश्रित रहते हैं उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत मणियों के समान मुझ पर ही आश्रित है। (७)

Meaning:

Beyond me there is none other, not even a little. Like beads are pervaded by string, all this is in me.

Explanation:

In this chapter, Shri Krishna urges us to see Ishvara as the ultimate cause of everything in this universe. To illustrate this point, he poetically portrayed Ishvara as the womb or the seed of everything, enabling us to develop the vision by which we can see Ishvara in everything. In this shloka, he makes us leap to a whole new level of vision by which we cannot just see Ishvara in everything but see everything in Ishvara.

Shri Krishna addresses Arjuna as the dhananjaya, the conqueror of wealth, and makes a bold statement. He says that other than Ishvara, there is nothing in this universe. This means Ishvara alone exists in the universe. Other than him, there is nothing else. Through a process that will be taken up in the next topic, we see this universe of names and forms instead of Ishvara.

In this verse, Lord Shree Krishna has clearly stated that He, in His original form, who stood before Arjun is the Ultimate Supreme Truth. By using the words, Me, My and I, He has dispelled the doubts that many have about Lord Shree Krishna Himself being God, the Supreme Lord. As many suppose that there is another higher formless entity, who is the ultimate source of even Lord Shree Krishna. As the first-born Brahma prays to Lord Shree Krishna:

“Shree Krishna is the Supreme Lord, who is eternal, omniscient, and infinite bliss. He is without beginning and end, the origin of all, and the cause of all causes.”

The Śhwetāśhvatar Upaniṣhad states:

“There is nothing equal to God, nor is there anything superior to Him.”

Lord Shree Krishna states about His dominion and His Supreme position in this universe. He is the Substratum over which this entire creation exists; He is the Creator, Sustainer, and Annihilator.

Normally, when we study the creation, we observe one law i.e., every cause has got its own cause. Thus, the general law if God is the cause of the creation; then who is the cause of God? Krishna says, I am the

Causeless cause of the creation because I am never an effect of anything. Parā prakr̥ti is anādhi means beginingless; aparā prakr̥ti is anādhi even aparā prakr̥ti, the inert principle is beginningless.

The shloka provides a necklace as an illustration. This necklace comprises a string and a series of knots in the string, which appear as beads. So, if we were to view this necklace, we would register it as a string and beads. But our intellect would tell us that it is nothing but the string with some modifications in the form of beads.

Similarly, Shri Krishna says that Ishvara pervades the entire universe just like this string pervades the entire necklace. When we apply our intellect, the necklace and the beads disappear, as it were, and only the string remains. Each bead contains the string, but the string contains all the beads. In other words, the string is all-pervading.

With the knowledge that Shri Krishna imparts in this chapter, we should strive for piercing through the world of names and forms and only seeing Ishvara.

Is there a practical advantage to viewing the world in this manner? If we can begin to develop this vision, then all our so-called problems with objects, people and situations will disappear, because we will realize that the ultimate cause of everything is Ishvara. If everything is Ishvara, there is no concept of any duality, including joy or sorrow. It is all Ishvara.

Shri Krishna understands that such a vision is hard to develop. Our vision is used to seeing the tangible and not the intangible. So, in order to help us in this path, he gives us some pointers that will help us see his glories or vibhootis.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान श्री कृष्ण द्वारा ज्ञान- विज्ञान योग या क्षर- अक्षर ज्ञान का सार श्लोक 4 से 7 में ही निहित है। इसलिये भगवान कहते है कि मेरे सिवाय किंचित मात्र भी दूसरी वस्तु नही है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र मणियों के सदृश्य मेरे में गुथा हुआ है।

उपर्युक्त प्रकृति तथा प्रकृति का कार्य यह जगत मुझ से अतिरिक्त कुछ भी नही, क्योंकि यह सब मेरा ही आभास और मेरा ही चमत्कार है, इसलिये सर्वरूपो में मैं ही प्रकाश रहा हूँ। यह जगत मुझ में मणियों के धागे जैसे पिरोया हुआ है। अतः समस्त ज्ञान-विज्ञान या क्षर- अक्षर ज्ञान कोई और नही परमात्मा का ही स्वरूप है। इस सृष्टि के लय होंने पर प्रकृति स्वरूप यह सृष्टि पुनः मुझ में ही विलीन हो जाएगी क्योंकि जो विश्व उतपन्न हो कर फिर विलीन हो जाता है वह सदा मुझ में ही रहता है, तब केवल मेरा ही रूप रह जायेगा।

कार्य कारण के सिद्धांत से किसी वस्तु या कार्य के होने का कोई न कोई कारण होता है। किंतु भगवान कहते कि वे कार्य - कारण के सिद्धांत के परे अनंत और अनादि है अर्थात उन की परा और अपरा प्रकृति या उस के कार्य का कोई भी कारण नहीं है।

इस के पूर्व के श्लोकों में कथित सिद्धान्त को स्वीकार करने पर हमें जगत् की ओर देखने के दो दृष्टिकोण मिलते हैं। एक है अपर अर्थात् कार्यरूप जगत् की दृष्टि से तथा दूसरा इस से भिन्न है पर अर्थात् कारण की दृष्टि से। जैसे मिट्टी की दृष्टि से उस में विभिन्न रूप रंग वाले घटों का सर्वथा अभाव होता है वैसे ही चैतन्यस्वरूप पुरुष में न विषयों का स्थूल जगत् है और न विचारों का सूक्ष्म जगत्। मुझ से अन्य किञ्चिन्मात्र वस्तु नहीं है।स्वप्न से जागने पर जाग्रत् पुरुष के लिये स्वप्न जगत् की कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। समुद्र में असंख्य लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं परन्तु वास्तव में वहाँ समुद्र के अतिरिक्त किसी का कोई अस्तित्व नहीं होता। उनकी उत्पत्ति स्थिति और लय स्थान समुद्र ही होता है। संक्षेप में कोई भी वस्तु अपने मूल स्वरूप का त्याग करके कदापि नहीं रह सकती है। पहले हमें बताया गया है कि प्रत्येक प्राणी में एक भाग अपरा प्रकृतिरूप है जिसका संयोग आत्मतत्त्व से हुआ है। यहाँ जिज्ञासु मन में शंका उठ सकती है कि क्या मुझ में स्थित आत्मा अन्य प्राणी की आत्मा से भिन्न है यह विचार हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचायेगा कि विभिन्न शरीरों में भिन्नभिन्न आत्मायें हैं अर्थात् आत्मा की अनेकता के सिद्धान्त पर हम पहुँच जायेंगे। समस्त नामरूपों में आत्मा के एकत्व को दर्शाने के लिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि वे ही इस जगत् के अधिष्ठान हैं। वे सभी रूपों को इस प्रकार धारण करते हैं जैसे कण्ठाभरण में एक ही सूत्र सभी मणियों को पिरोये रहता है। यह दृष्टांत अत्यन्त सारगर्भित है। काव्य के सौन्दर्य के साथ साथ उस में दर्शनशास्त्र का गम्भीर लाक्षणिक अर्थ भी निहित है। कण्ठाभरण में समस्त मणियाँ एक समान होते हुये दर्शनीय भी होती हैं परन्तु वे समस्त छोटी बड़ी मणियाँ जिस एक सूत्र में पिरोयी होती हैं वह सूत्र हमें दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि उस के कारण ही वह माला शोभायमान होती है।इसी प्रकार मणिमोती जिस पदार्थ से बने होते हैं वह उससे भिन्न होता है जिस पदार्थ से सूत्र बना होता है। वैसे ही यह जगत् असंख्य नामरूपों की एक वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि है जिसे इस पूर्णरूप में एक पारमार्थिक सत्य आत्मतत्त्व धारण किये रहता है। एक व्यक्ति विशेष में भी शरीर मन और बुद्धि परस्पर भिन्न होते हुये भी एक साथ कार्य करते हैं और समवेत रूप में जीवन का संगीत निसृत करते हैं। केवल यह आत्मतत्त्व ही इसका मूल कारण है।

इस जगत की उत्पत्ति का कारण स्वयं परब्रह्म है जो परा और अपरा प्रकृति और उस की क्रियाओं का कारण है किंतु उस की स्वयं की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। इसलिए संपूर्ण सृष्टि में वह कण कण में विद्यमान है और इस सृष्टि का सूत्रधार भी है। इसलिए सृष्टि में परब्रह्म को नही खोजना हैं, संपूर्ण सृष्टि ही परब्रह्म है, यह जानना है।

ईश्वर के स्वरूप को समझने के लिये हमें हमारी सांसारिक वृत्तियों अर्थात राग-द्वेष को त्याग कर समझना होगा। जन्म लेते ही जीव का सांसारिक मार्ग खुल जाता है, जिस से वह संसार की हर वस्तु को स्वयं के स्वार्थ, अहम एवम राग-द्वेष से देखता और समझता है। छोटा बालक भी अपने सांसारिक हित को समझने से भूख लगने पर रोता है या माँ से सुरक्षा के कारण मुस्कुराता है। किंतु कल्याणकारी मार्ग को अग्रसर होने के लिये राग-द्वेष की वृत्ति तो त्यागना आवश्यक है। जब तक दृष्टि सात्विक नही होती, तब तक वह मन के द्वारा राग-द्वेष से हर वस्तु को देखती है। व्यवहारिक जीवन मे जब तक आप का मन, हृदय एवम बुद्धि राग-द्वेष से मुक्त नही होगी, आप सामने वाले को निष्पक्ष नही देख या सुन

सकते। यह यहाँ वर्णित करने का उद्देश्य यही है कि कण कण में भगवान है, इस को समझने से एक से छह अध्याय इसी वृति को ध्यान द्वारा एकत्व एवम समतत्व करने को कहा गया।

अत्यंत गुढ़ विषय समझने के लिए यह है कि परमात्मा अर्थात परब्रह्म भगवान श्री कृष्ण अपने को मैं, मुझे, मेरा जैसे शब्दों से संबोधित कर रहे है। अद्वैतवाद में यदि जब कोई अन्य न हो तो यह शब्द सामान्य ज्ञानी अहम से जोड़ लेता है। इसलिए कुछ मीमांसको ने भगवान श्री कृष्ण को सर्वोपरि परब्रह्म की उपाधि देते हुए, सभी ईश्वर स्वरूप अर्थात राम, शिव आदि को द्वितीय श्रेणी में रख दिया। जब की परब्रह्म अपने मानवावतार में अर्जुन को अपने स्वरूप का वर्णन कर रहे है। इसलिए यहां मैं, मेरा, मुझे आदि शब्दो को भी समझना आवश्यक है।

अंत:करण उपाधि जो बोध (चिदात्मा) है, जो मैं इस प्रतीति के तथा मैं इस शब्द के विषय रूप से प्रतीत होता है, वही बोध त्वं पद का वाच्यार्थ कहाता है। माया जिस की उपाधि है, जगत का जो (निमित्त और उपादान) कारण है, सर्वज्ञता आदि जिस के तटस्थ लक्षण है, परोक्षता नामक धर्म जिस में पाया जाता है, सत्य ज्ञानादि जिस का स्वरूप बताया जाता है, वही तो तत् पद का वाच्यार्थ है।

वही वस्तु प्रत्यक भी हो और परोक्ष भी हो, तथा सद्वितीय भी हो और पूर्ण भी हो, ये दोनो बातें विरुद्ध हैं (हो नही सकती) इस कारण (संगति बैठाने के लिए) लक्षणा वृति का आश्रय लेना पड़ जाता है।

अंत:करण सहित जो जीव है वही अंत:करण रहित ब्रह्म है। अंत:करण का पूर्ण त्याग कर देने पर जो चिदात्मा शेष रह जाता है, अहम ब्रहास्मि यह महावाक्य उसी शेष रहे चेतन का साक्षी में ब्रह्मत्व का ज्ञान कराता है। भगवान श्री कृष्ण द्वारा अपने को परब्रह्म स्वरूप में प्रकट करने का कारण उन का यही मानवावतार है, जिसे भ्रम से, अज्ञान से भगवान के मानव अवतार को कुछ लोग एक मात्र परब्रह्म की संज्ञा देते है, किंतु परब्रह्म तो सर्वत्र, सर्वस्वरूप में विद्यमान है।

अब हम भगवान के स्वरूप को किस प्रकार जाने, अगले श्लोक से विभिन्न रूप में स्थित परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है किंतु उस को जानने के लिये योगी होना आवश्यक है क्योंकि जो योगी है वो ही तत्वविद है वो ही परमात्मा के दिव्य रूप को देख सकता है। कण कण में परब्रह्म को देखने का यह अभ्यास स्थूल स्वरूप से सूक्ष्म स्वरूप तक परिपक्क आने वाले अध्यायों में होगा। कण कण में भगवान को पढ़ने वाले या सुनने वाले या भजन की तरह गीत गाने वाले तो बहुत होते है किंतु योगी ही इस को हृदय, मन, बुद्धि एवम चेतन में धारण करता है, अतः आगे की गीता के श्लोक को हम योगी की भांति पढ़े, गुने, समझे तो ही हम परमात्मा के अनन्त स्वरूप- दिव्य रूप को समझ सकते हैं। अतः आने वाले श्लोकों में हम ईश्वर के दिव्य रूप को प्रकृति रूप से ले कर परमतत्व रूप के साथ देखे एवम अनुभव करे।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.07।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.8॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

"raso 'ham apsu kaunteya,
prabhāsmi śaśi-sūryayoḥ..।
praṇavaḥ sarva-vedeṣu,
śabdaḥ khe pauruṣaḿ nṛṣu"..।।

भावार्थ:

हे कुन्तीपुत्र! मैं ही जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ, समस्त वैदिक मन्त्रो में ओंकार हूँ, आकाश में ध्वनि हूँ और मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला पुरुषार्थ भी मैं हूँ। (८)

Meaning:

I am the taste in water, O Kaunteya. I am the light of the sun and moon, Om in all the Vedas, sound in space, valour in men.

Explanation:

Any attitudinal change is based on understanding. Krishna wants us not only to understand this fact, but Krishna wants our attitude also to change accordingly. Attitude is based on knowledge. As you understand the world, so you entertain the attitude and as your understanding of the world undergoes a change, correspondingly there should be an attitudinal change also. when I understand the world as visvarūpa, the manifestation of God, then what is my attitude, reverence. In fact, the basic teaching of Hinduism is reverence to the creation, as manifestation of God. In fact you can spend your whole life to develop this reverence, Hinduism has fulfilled; you see all the prayers; Rudram which is supposed to be one of the most potent beautiful prayers. What is Rudram; many people think that Rudram has the highest philosophy; No; Rudram is only visvarūpa darśanam. If you read the translation of Rudram, very interesting; you will find I do namaskāra to Lord Śiva, who is in the form of Mud; muddāya namaḥ; who is in the form of leaf; that also two leaf; dry leaf; who is fresh leaf also; you will find that everything in the creation is enumerated, and we are asked to look at everything reverentially; world as world will cause samsāra; but the very same world as Īśvara will not cause any samsāra.

Now, in this chapter, where we learn to channel our thoughts towards a single ideal, which is Ishvara. Ishvara is in everything, and everything is in Ishvara - these statements were proclaimed by Shri Krishna previously. Even if we intellectually understand Ishvara as the ultimate cause, our senses do not

literally “see” Ishvara. So then, how do we learn to remember Ishvara at all times?

Shri Krishna helps us in this regard by giving us a list of Ishvara’s vibhootis or glories. He recognizes that our mind tends to see wonder and glory in some aspects of the universe. If we can train ourselves to remember Ishvara whenever we see his glories, it will help us advance towards our goal of learning to see Ishvara everywhere.

The first example of Ishvara’s vibooti is the taste in water. Water is an important part of everyone’s life. Over 60% of our body is made up of water. Shri Krishna says that Ishvara is the taste or essence of water. In other words, Ishvara is what makes water behave like water. So whenever we have a glass of water when we are extremely thirsty, it is Ishvara that is refreshing us. This is a wonderful meditation that we can practice.

Have you ever tried putting a solid food item, on your dry tongue? Do you get any taste? Only when the saliva in our mouth dissolves some part of the solid, we start getting the taste as perceived by the taste buds on our tongue. After all, who can separate the taste of water from water? That is why Shree Krishna says that he is the taste in water. It is the intrinsic property of water to carry the taste of all substances; without water, there will be no taste.

Similarly, whenever we are dazzled by the brilliance of the sun, or the soothing light of the moon, we should remember that it is Ishvara that is providing the brightness or the effulgence. Whenever we hear a sound, we should know that it is Ishvara that provides the ability for sound to travel through air. Moreover, when we read stories about people who selflessly protect their country or their fellow human beings, we should remember that it is Ishvara that provides valour to them.

In the same way, ākāśha (space) acts as the vehicle for sound. Different languages form due to sound modifications. Shree Krishna says He is the origin of it all, as the sound in space is His energy. He is the syllable Om the most important sound in the Vedic mantras. The sun and the moon get their radiance from Him. Even for all the abilities that manifest in humans, He is the ultimate energy source.

Meditation on the word “Om” is considered one of the highest meditations possible.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अध्याय 6 के सारांश में हम ने दसवें का प्रसंग पढ़ा था। यही दसवां अज्ञान में अज्ञान से आवरण - विक्षेप - परोक्ष - अपरोक्ष - तृप्ति और शोकनाश की अवस्था से गुजरता हुआ, मुक्ति की ओर बढ़ता है। प्रस्तुत अध्याय में परमात्मा भी अज्ञान को मिटाने के अपने स्वरूप का वर्णन कर रहे है, जिस से जीव को उन के स्वरूप और स्वभाव का परोक्ष ज्ञान हो जाए और यदि वह उस स्वरूप का श्रवण और मनन करता रहेगा तो वह सृष्टि के कण कण में परमात्मा के स्वरूप को पहचानने लग जाएगा। यदि कहा जाए कि अज्ञान में जीव जब कुछ भी नही पहचानता हो तो बालक को जैसे वस्तु, रंग, शब्द, और भोजन का ज्ञान कराया जाता है तो वह उस के अज्ञान के आवरण को नष्ट करने लगता है और उस का सांसारिक वस्तु के प्रति जो विक्षेप है, वह परोक्ष ज्ञान में परिवितित होता है। बाल्मिकी, अंगुलीमार जो को ज्ञान दिया गया उस से उन का प्रकृति का अज्ञान मिटने लगा और उस से उन को भी परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हुई। ठीक इसी तरह से शास्त्र, वेद, गीता का अध्ययन वा श्रवण करने से परब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होने लगता है। जो जीव प्रकृति की क्रियाओं अर्थात घर, ऑफिस, परिवार और अपने सीमित समाज में खाने - पीने और मौज उड़ाने में मस्त है, उसे पहले वाक्यार्थ ज्ञान की आवश्यकता उस के अज्ञान और विक्षेप को मिटा कर परोक्ष ज्ञान देने की है।

ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मात्मा जीव जो अज्ञान में है, यदि उसे वाक्यार्थ ब्रह्म का ज्ञान दिया जाए तो श्रीमच्छङकाचार्य जी का कथन है कि इस से जीव को परोक्ष ज्ञान अपने स्वरूप का तो हो जाता है, जो बाद में अन्य व्यवहार में अपरोक्ष ज्ञान में भी परिवर्तित हो जाता है। किंतु जब तक श्रवण और मनन से इस की आवृत्ति बार बार नही की जाती, यह ज्ञान बोधगम्य नही होता। गीता बार बार पढ़ने से ही समझ में आने लगती है, अज्ञान में फसा जीव जब भजन, कीर्तन या परमात्मा का ज्ञान का बार बार श्रवण और मनन करता है तो उसे भी ब्रह्म ज्ञान बोधगम्य होने लगता है। अतः श्रवण से परोक्ष और मनन से परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष होता है और निदिध्यासन से यही ज्ञान बोधगम्य होता है। इसलिए अक्सर जप, भजन, कीर्तन और भगवान की भक्ति करने और भगवान को प्रत्येक स्वरूप में देखने को कहा गया है। निष्काम कर्मयोगी होने के लिए भी आत्मशुद्धि होनी ही चाहिए। इसलिए भगवान अर्जुन को अपने स्वरूप का वर्णन कर रहे, जिस से अर्जुन का ब्रह्म के स्वरूप के प्रति अज्ञान समाप्त हो।

जो तत्व जिस का आधार है और जिस में व्याप्त है वही उस तत्व का जीवन या स्वरूप है, अर्थात जिस तत्व से जिस की पहचान हो उसे ही उस तत्व का सार कहेंगे।

श्लोक 4 से 7 में क्षर-अक्षर योग का परिचय देने बाद भगवान अपने स्वरूप को अधिक विस्तृत रूप में बताते हुए कहते है कि जल के सार तत्व रस यानि तरलता मैं हूँ, चन्द्र, सूर्य एवम समस्त तारागण का सार प्रकाश तत्व मैं हूँ, समस्त वेदों का प्रणव तत्व 'ॐ' मैं हूँ, आकाश में शब्द तत्व मैं हूँ एवम पुरुष में पौरुष तत्व सार मै ही हूँ।....

हमारी धार्मिक एवम ज्ञान की आस्था का विकास पारंपरिक तरीके से हुआ, इसलिये हमारे मन, मस्तिक, बुद्धि आत्मा में ईश्वर की छवि उन चित्रों के रूप में बस गयी, जिन्हें हम बचपन से पूजते आ रहे है। अध्याय 2 से 6 के मध्य ईश्वर ने सर्वप्रथम अर्जुन के उस ज्ञान शास्त्र को विकसित किया जिस से वो ज्ञान युक्त योगी बन कर सभी कामनाओं एवम अहम को त्याग सके और स्वयं की आत्मा को परमात्मा के इतने करीब ले जाये कि उस मे खुद परमात्मा एवम परमात्मा में वो स्वयं को प्राप्त कर के चिर आनन्द को प्राप्त कर सके।

कल यही पेंट शर्ट पहन कर भगवान राम हमारे सामने हो तो हम स्वीकार नही कर सकते क्योंकि हर देवी देवता के जिस स्वरूप में वो है उस के अतिरिक्त दूसरा स्वरूप हमारे मन, बुद्धि एवम अहम को स्वीकार नही होता।

ईश्वर सर्वव्यापी एवम कण कण में समाया है, यह प्रकृति एवम प्रकृति से परे जीव में है। क्षर-अक्षर के ज्ञान के बाद ईश्वर स्वयं को वर्णित करते है कि भौतिक स्वरूप एवम आकार के सार तत्व में वो ही विद्यमान है। हमे उस को पहचानने के ज्ञान चक्षु खोल कर योगी की भांति देखना होगा। क्योंकि जब तक अहम है तब तक मैं, आप और हम सब एक दूसरे की देखते है किंतु जब योगी हो जाएंगे तो वो हर जगह, हर वस्तु में और हर रूप में दिखेगा। अतः अब कुछ श्लोक योगी की भांति पढ़े और ईश्वर के उस भव्य रूप का दर्शन करे जिसे हम ने आज तक कभी नही महसूस किया होगा।

मेरी चार धाम यात्रा में जब भी किसी भी धाम में पहुचा तो प्रकृति की उस अविस्मरणीय छवि में हर ओर उस की उपस्थिति ही महसूस होती है। मेरा विस्वास है धार्मिक तीर्थ में विशेष तौर पर केदारनाथ, मान सरोवर आदि स्थान भी इसलिये ही निश्चित किये गए है जहां व्यक्ति परमात्मा के दर्शन प्रकृति में कर सके। तत्व दर्शन के उस अनुभव के बाद जब वापस इस व्यावसायिक जीवन मे पुनः अहम ने घेर लिया क्योंकि जो परोक्ष ज्ञान का अनुभव हुआ था उसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन से अपरोक्ष बनाते हुए, बोधगम्य नही कर सका। यह अनुभव हम सांसारिक जीव को अक्सर तीर्थ, शमशान, भागवत कथा या गुरु के संगत में जरूर होता होगा। हम अपने ही बंधन में रस्सी से बंधे है और जकड़ता के बीच उस ईश्वर को खोजते है जो स्वतंत्र है और हम उसे भी अपनी जकड़ता में लाना चाहते है। इसलिये इस अध्याय के पूर्व कृष्ण ने अर्जुन को तत्वविद योगी बनने की कहा जिस से वो ईश्वर के दिव्य स्वरूप को पहचान सके।

महसूस कीजिये की शरीर मे जल तत्व ईश्वर है, प्यास में पानी का एक गिलास ईश्वर के रूप में ऊर्जा का संचालन करता है। यह वायु, ब्रह्मांड, सूर्य, चंद्रमा, तारे, जीव सभी ईश्वर के स्वरूप में हमारे चारों ओर कृपा की दृष्टि बरसा रहे है।

वृत्तियों को नियंत्रित करने के इन्द्रियों का नियमन होना आवश्यक है। क्लिष्ट -अक्लिष्ट प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवम स्मृति यह पांच वृतियाँ मानी गई है, जिन्हें नियंत्रित करना ही योग है। किंतु ज्ञान से अधिक आवश्यक अभ्यास एवम संकल्प है। जब तक हृदय से परब्रह्म के प्रति समर्पण नही होता, पूरा ब्रह्म ज्ञान भ्रमित करने वाला सांसारिक ही होता है। इंद्रियां प्रकाशवान है, वे ही बाह्य जगत से हमे परिचित कराती है, वे जो देखती, सुनती, सूंघती, रस एवम स्पर्श करती है, मन उसी का अन्वेषण करता है। अतः आनन्द की प्रथम अनुभूति तभी संभव है जब हम ब्रह्मांड के प्रत्येक स्वरूप में परब्रह्म के ही दर्शन करें। अपनी इन्द्रियों से परब्रह्म का दर्शन करें। यह भी एक प्रकार से समाधि योग ही है कि जल

के स्वाद से ब्रह्मांड तक, ॐ की ध्वनि तक हम परब्रह्म के स्वरूप का आनन्द ले। यह अत्यंत गंभीर भी है क्योंकि राग-द्वेष से मुक्त होने के लिये जब तक हम कण कण में भगवान को नही पहचानते, हम योगरूढ़ नही हो सकते।

क्या आप ने ध्यान दिया है कि विभिन्न स्तुति स्तोत्र, प्रार्थना, आरती या मंत्र परब्रह्म के स्वरुपों का ही वर्णन और उन के असीमित क्षमताओं का हो गुणगान करते है, क्योंकि जो हम अव्यक्त के प्रति व्यक्त नही कर सकते उन्हें हम सगुण में निर्गुण के दर्शन करते है।

मुझे विश्वास है हम सब ईश्वर के दिव्य स्वरूप को दर्शन करने लायक हो कर आगे पढ़ते है और ईश्वर को उस प्रत्येक स्वरूप में हृदय से स्वीकार करते हुए पूर्ण भक्ति भाव से अपने समक्ष पा कर दर्शन का आनन्द लेते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.08।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.9॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

"puṇyo gandhaḥ pṛthivyāḿ ca,
tejaś cāsmi vibhāvasau..।
jīvanaḿ sarva-bhūteṣu,
tapaś cāsmi tapasviṣu"..।।

भावार्थ:

मैं पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ, अग्नि में उष्मा हूँ, समस्त प्राणीयों में वायु रूप में प्राण हूँ और तपस्वियों में तप भी मैं हूँ। (९)

Meaning:

I am the pleasant fragrance in earth and the brightness in fire. I am the life-force in all beings, and the austerity in the austere.

Explanation:

Earlier, Shri Krishna said that he is the taste in water, the light in the sun and moon, Om in the Vedas, sound in space, and valour in men. He now continues to list his glories or vibhootis in this shloka.

In continuation to the previous verses, Shree Krishna declares that He is the source and the most vital ingredient of everything. The entire universe is an

extension of His opulence. On Earth, He is the force behind both the non- living and the living. He is the mild and pure fragrance of the earth and the bright radiance of a flame. He is the life-force of all living creatures. The ascetics or sadhus consciously deny themselves of bodily pleasures and perform austerities for self- purification. Lord Krishna says He is indeed the force behind their capacity to do penance.

No fragrance can be compared to that which arises from the earth after the first shower in the monsoon season in India. You have to experience it yourself. Shri Krishna says that whenever we smell that pleasant fragrance, we should know that it is Ishvara in the form of that fragrance. Furthermore, Shri Shankaraachaarya in his commentary goes on to say that any fragrance is a product of prakriti or nature, and any odour is a product of ignorance or avidya.

The essential nature of pṛthivi, the earth is its fragrance or smell; among the five elements the earth alone has got gandhaḥ guṇaḥ; the other four elements do not have gandha; so ākāśa has got śabda guṇaḥ, Vāyu has got sabda and śparśa; sparśa means touch, agni has got śabda, sparśa and rūpam, visible; jalam has got śabda, sparśa, roopa, and rasa, unique and pṛthivi has got śabda, sparśa, rūpa, rasa and gandha (unique one).

Next, if we are asked to imagine that entity which contains the hottest fire, we immediately think of the sun. Even if we intellectually know that there are other stars that are much larger than the sun, we still think of the sun as the brightest and the hottest entity. Shri Krishna says that Ishvara is the heat or brilliance in fire everywhere, including the sun and the stars. In other words, the brilliance of the sun is darkness compared to the brilliance of Ishvara.

We intuitively know that there is a life force or life principle that distinguishes inert objects from plants, animals and humans. Our heart becomes joyful when we see an abundance of this life force, especially in children. Shri Krishna says that it is Ishvara that is the life force or life principle present in all plants, animals and human beings.

Finally, Shri Krishna brings up the topic of tapas or austerity. What is tapas? It is the energy that builds up in our body when we check the movement of our senses and our mind. We notice that whenever we over-indulge in eating, drinking, watching too much TV or partying, we feel drained of all our energy.

Conversely, when we control our senses and our mind, we will find an increase in our energy levels. This energy is tapas, and Shri Krishna says that this tapas is Ishvara.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व अध्याय में भगवान ने ध्यान योग में बताया था कि योगी पुरुष सभी मे मुझ की एवम स्वयं को मुझ में देखता है। इसलिये पृथ्वी के आत्मस्वरूपी पुण्य गंध, अग्नि में तेज, समस्त चराचर में प्राणशक्ति के जीवन तत्व में एवम तपस्वी के तप में मैं ही विद्यमान हूँ।

पृथ्वी में मैं पवित्र गन्ध सुगन्ध हूँ अर्थात् उस सुगन्धरूप मुझ ईश्वरमें पृथ्वी पिरोयी हुई है। जल आदि में रस आदि की पवित्रता का लक्ष्य कराने के लिये यहाँ गन्ध की स्वाभाविक पवित्रता ही पृथ्वी में दिखलायी गयी है। गन्ध रस आदि में जो अपवित्रता आ जाती है, प्रायः वर्षा ऋतु के बाद पहली धरती से उठी गंध हमारे तन मन को आनन्दित कर देती है, किन्तु वो स्थान स्वच्छ एवम पवित्र होना चाहिये, किन्तु कभी कभी सांसारिक पुरुषों के अज्ञान और अधर्म आदि की अपेक्षा से एवं भूत विशेषों के संसर्ग से है (वह स्वाभाविक नहीं है)। मैं अग्नि में प्रकाश हूँ तथा सब प्राणियों में जीवन हूँ अर्थात् चौरासी लाख योनियो में जीने वाले सभी प्रकार के प्राणी, जिस भी रूप, रंग एवम आकार में एवम जिस भी पदार्थ को भोजन के ग्रहण करते हो, जिस से सब प्राणी जीते हैं वह जीवन मैं हूँ, दिन भर के कार्य करने के लिये ऊर्जा की आवश्यकता होती है और हम भोजन ग्रहण से ले कर ऊर्जा संचालन तक उस परमात्मा की उपस्थिति महसूस कर सकते है। मैं ही समस्त प्राणियों का जीवन तत्व हूँ। तपस्वियों में तप मैं हूँ अर्थात् उस तपरूप मुझ परमात्मा में (सब) तपस्वी पिरोये हुए हैं।

परमात्मा ने पृथ्वी में अपने स्वरूप को पवित्र गंध को बताया है। जब परमात्मा कण कण में विद्यमान है, तो प्रश्न यह भी उठता है क्या परमात्मा अन्य गंध या दुर्गंध में नही है? इस प्रकार से उत्तम पुरुष में परमात्मा और निम्न पुरुष में परमात्मा नही होना, उस एक परब्रह्म होने के विचार को प्रश्नचिन्ह में डाल देगा। इसलिए हमे समझना होगा कि परब्रह्म निर्लिप्त और नित्य है अर्थात किसी भी प्रकार के विकार से मुक्त है। सृष्टि परमात्मा के बनाए नियमो के अनुसार प्रकृति द्वारा माया से चलती है, जिस में कार्य - कारण का सिद्धांत प्रमुख है। अतः जो वस्तु सत्व गुण से परे है, उस पर प्रकृति के तमो अर्थात निकृष्टता का प्रभाव अर्थात अज्ञान है। यह अज्ञान एक बंध माया होने से जीव, वस्तु या विचार जिस में सत्व का अभाव हो, परमात्मा का स्वरूप नही कहा जा सकता, वह उस की लीला या खेल मात्र है। किंतु उस में छुपा हुआ सत्व गुण परमात्मा का ही स्वरूप है। फिर अज्ञान एक भ्रम होने परमात्मा का संकल्प मात्र है, इसलिए जो है ही नही, उस से ओत प्रोत कोई भी वस्तु, विचार या जीव परमात्मा का स्वरूप नही हो सकता। इसलिए परमात्मा ने अपने स्वरूप को 24 कैरेट के सोने के गुण वाले स्वरूप में पहचानने को कहा है, जिस से जीव परमात्मा को सरलता से बिना अज्ञान और भ्रम के विकारों से मुक्त पहचान सके।

श्लोक 7.04 में अपनी अष्टधा अपरा प्रकृति के विषय में भगवान ने बताया था। इस अपरा में पांच महाभूतों का नाम पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश है, जो अपने गुणों और तन्मात्राओ से समस्त सृष्टि में सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप में व्याप्त है। इसलिए श्लोक 7.08 में भगवान जल और आकाश के विषय में

,अग्नि के तेज और प्रकाश के विषय में और आकाश के शब्द स्वरूप को बता रहे थे। अतः यह स्पष्ट है कि परमात्मा प्रकृति के अधीन नहीं है, प्रकृति ही उन के आधीन है।

इसलिए यह आवश्यक है कि इन पंचभूतों के स्वरूप को हम समझे, जो परमात्मा के आधीन संपूर्ण सृष्टि का निर्माण करते है।

पंचमहाभुत और उन के गुण:

गुण-प्रकार: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

प्रकृति: भारी, शीतल, ऊष्ण, अनिश्चित, मिश्रित

गुण: वज़न-एकजुटता, द्रवता-संकुचन, गरम-प्रसार, गति, फैलाव

वर्ण: पीला, सफ़ेद, लाल, नीला या भूरा, काला

आकार: चौकौन, अर्धचंद्र, त्रिभुज, षट्कोण, बिन्दु

चक्र: मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि

मंत्र: लं, वं, रं, यं, हं

तन्मात्रा: गंध, स्वाद, दृश्य, स्पर्श, शब्द

शरीर में कार्य: त्वचा-रक्त, शरीर के सभी द्रव, क्षुधा-निद्रा-प्यास, पेशियों का संकुचन-आकुचन, संवेग-वासना

शरीर में स्थिति: जाँघे, पैर, कंधे, नाभि, मस्तक

मानसिक दशा: अहंकार, बुद्धि, मनस-विवेक, चित्त, प्रज्ञा

कोश: अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय

प्राणवायु: अपान, प्राण, समान, उदान, व्यान

ग्रह: बुध, चंद्र-शुक्र, सूर्य-मंगल, शनि, बृहस्पति

दिशा: पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, मध्य-ऊर्ध्व

(प्रत्येक गुण क्रमश: पंचभुतों के लिए पृथक पृथक है)

अष्टधा प्रकृति के समस्त तत्व में परमात्मा का होना देखना योगी का समतत्व भाव है, इसलिये चर - अचर दोनो में परमात्मा अपने होने की पुष्टि कर रहे है, क्योंकि जो यह जानता है कि यह सब परब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तो जो भी पंच इन्द्रियों से ग्रहण करते है, वह परमात्मा का ही स्वरूप है। अगले श्लोक में इस का विस्तार पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.09।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.10॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

"bījaḿ māḿ sarva-bhūtānāḿ,
viddhi pārtha sanātanam..l
buddhir buddhimatām asmi,
tejas tejasvinām aham"..।।

भावार्थ:

हे पृथापुत्र! तू मुझ को ही सभी प्राणीयों का अनादि-अनन्त बीज समझ, मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वी मनुष्यों का तेज हूँ। (१०)

Meaning:

Know me as the eternal seed of all beings, O Paartha. I am the intellect of the intelligent, the radiance of the illustrious.

Explanation:

Previously, Shri Krishna spoke about seeing Ishvara as earthly fragrance, brilliance in fire, life in beings and austerity in the austere. He continues to give a list of his glories in this shloka, beginning with the statement that he is the eternal seed of all beings. He also addresses Arjuna as Paartha, descendent of King Prithu.

Earlier, Shri Krishna asserted that Ishvara is the cause of everything in the universe. So then, why is he seemingly repeating himself by the statement “I am the eternal seed”? It is to ensure that we gain the correct understanding.

In a cause-and-effect relationship, every cause is the seed of its effect. For example, an ocean is the seed of the clouds, and the clouds are the seed for rain. Similarly, Shree Krishna says in this verse that He is the cause (the eternal seed) from which all beings manifests.

Normally, when any tree grows out of a seed, the seed ceases to exist. In the case of Ishvara, however, the seed is eternal. In other words, the seed is changeless, but the entire content of the universe lies in an unmanifest form in this seed. It manifests itself at various points in the universe's life span, not just at the beginning. So therefore, we need to learn to recognize the eternal seed and not get carried away or stuck in the level of names and forms.

Next, Shri Krishna urges us to recognize Ishvara in intelligence. We admire intelligent people for their ability to think clearly about complex issues without getting swayed by noise. How is their way of thinking different? A glass of clear water lets through more light than a glass of water that is agitated or clouded by dirt. Similarly, an intelligent person 's mind is less dominated by the sway of emotion, and therefore enables the brilliance of Ishvara to shine through the intellect unhindered. In this manner, Ishvara becomes the intelligence of the intelligent.

Why do some people have greater brilliance in their thoughts and ideas? The only explanation for this can be; since all that exists is a manifestation of God's energy. The splendid qualities visible in such outstanding people can only be due to God's grace. As Shree Krishna has mentioned in this verse, He is the subtle force behind the intelligent and the glorious. He makes their minds more analytic and thoughts scintillating.

Finally, Shri Krishna adds tejas or radiance to his list of vibhootis. This radiance manifests in us when we are in good physical and mental health, when we have slept well, when we are fit. Also, when someone had earned a lot of wealth through self-effort, or has performed selfless service, they also have a certain kind of glow. Shri Krishna says that it is Ishvara manifesting in these illustrious individuals in the form of tejas or radiance.

Sage Tulsidas said:

"Neither did I write the Ramayan, nor do I have the ability to write it. The Lord is my Doer. He directs my actions and acts through me, but the world thinks that Tulsidas is doing them." Therefore, Lord Shree Krishna is indeed the ultimate source of all the brilliance and intelligence that manifests around us.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परब्रह्म नित्य अपने स्वरूप को सभी को अधिक विस्तृत रूप में समझाने के लिए भगवान आगे कहते है कि किसी भी प्राणी का उद्गम एवम अंत एक ही बीज से होता है यह बीज सनातन है, जो कभी भी नष्ट नही होता। क्योंकि भगवान ही इस सम्पूर्ण जड़ एवम चेतन सृष्टि का आधार है इसलिये वह सनातन बीज भी परमात्मा ही है।

गीता में बीज शब्द का प्रयोग यहाँ भगवान् और कही कही यह जीवात्मा दोनों के लिये आया है। बीज का अर्थ वह मूल तत्व जिस से बरगद जैसा विशाल वृक्ष तैयार होता है। विशाल ब्रह्मांड जिस मूल से बना है, वह तत्व परब्रह्म अर्थात कभी भी नष्ट न होने वाला बीज है। यह चेतनतत्त्व अव्यय अर्थात् अविनाशी है। संसार मे जीवन चक्र में बीज से उत्पन्न वनस्पति या प्राणी अंत मे बीज में ही समा जाते है अर्थात बीज से वृक्ष, वृक्ष से फल और फल से बीज। ऐसे ही संसर्ग से जीव, जीव से संसर्ग यही प्रक्रिया चलती रहती है, इस का मूल परब्रह्म ही अविनाशी और नित्य है। संकुचन और विकास यह सृष्टि की सरंचना ही है। मनुष्य, पशु, पक्षी सभी सूक्ष्म बिंदु से जन्म लेते हुए, विकसित होते है और पुनः सूक्ष्मता में लीन हो जाते है, यह ब्रह्मांड भी सूक्ष्म से विकसित हो कर संकुचन को जाएगा। सृष्टि का प्रलय और उद्भव भी ब्रह्मा जी के दिन और रात से इसी से जुड़ा है।

सभी प्राणियों का उदगम कहीं न कहीं होगा किंतु सृष्टि कर्ता का न आदि है और न ही अंत। परिपक्व बुद्धि के जिज्ञासुओं के लिये पूर्व के दो श्लोकों में दिये गये उदाहरण तत्त्व को समझने के लिए पर्याप्त हैं किन्तु सांसारिक बुद्धि के पुरुषों के लिए नहीं। अत यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ और उदाहरण देते हैं। समस्त भूतों का सनातन कारण मैं हूँ। जैसे एक चित्रकार अपने चित्र को और अधिक स्पष्ट और सुन्दर बनाने के लिये नये नये रंगों का प्रयोग करता है वैसे ही मानो अपने संक्षिप्त कथन से संतुष्ट न होकर भगवान् श्रीकृष्ण और भी अनेक दृष्टान्त देते हैं जिनके द्वारा हम दृश्य जड़ जगत् तथा अदृश्य चेतन आत्मतत्त्व के सम्बन्ध को समझ सकें।बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ एक बुद्धिमान व्यक्ति अपने आदर्शों तथा विचारों के माध्यम से अपने दिव्य स्वरूप को व्यक्त कर पाता है। उस बुद्धिमान् पुरुष के बुद्धि की वास्तविक सार्मथ्य आत्मा के कारण ही संभव है। उसी प्रकार तेजस्वियों का तेज भी आत्मा ही है।दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा ही बुद्धि उपाधि के द्वारा बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है।

सम्पूर्ण पदार्थो का निश्चय करने वाली और मन इंद्रियाओ को अपने शासन में रख कर उन का संचालन करनेवाली अन्तःकरण की जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है उसे ही यहां बुद्धि या मेघा कहेंगे। जिस में वह बुद्धि अधिक होती है उसे ही बुद्धिमान कहते है जो ईश्वर की अपरा प्रकृति का ही स्वरूप है, इसलिये ईश्वर ने बुद्धिमान पुरुष का सार बुद्धि तत्व को स्वयं का स्वरूप घोषित किया।

इसी प्रकार सभी लोगो को आप के व्यक्तीत्व का प्रभाव डालने वाली शक्ति विशेष को हम लोग तेज के नाम से जानते है, इसे हर प्राणी का औरा भी कह सकते है, इस तेज का स्वरूप भी भगवान की अपरा प्रकृति का ही अंश है इसलिये इस को भी ईश्वर ने अपना स्वरूप बताया।

"ना मैं किया न करि सकौं, साहिब करता मोर।

करत करावत आपु है, पलटू पलटू सोर।।"

उक्त पंक्तियां यह सिद्ध करती है कि किसी व्यक्ति को अपनी बुद्धिमत्ता, तेज या बल पर कभी भी यह सोच कर अभिमान नही होना चाहिये कि यह उस का अपना किया है, क्योंकि जो कुछ भी बुद्धिमत्ता, तेज या बल है, यह सब परब्रह्म का ही प्रतिरूप है जो जीव में हम देखते है।

हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रहलाद से पूछा था कि भगवान कहा है, तो प्रहलाद ने भगवान हर स्थान यहां तक पूछने पर बताया कि खंबे में भी भगवान है। यह उस की भक्ति की पराकाष्ठा से ज्यादा उस की श्रद्धा एवम विस्वास था, जिस के कारण भगवान को उस खंबे से प्रकट होना पडा।

राजा बलि को अपने अनंत साम्राज्य का गर्व था। तो वामन अवतार में भगवान ने संपूर्ण जगत को नाप लिया है, दूसरे कदम से भगवान ने संपूर्ण अपरा प्रकृति को माप लिया है और उस के बाद आपके समस्याग्रस्त अहंकार के अलावा और कुछ नहीं है, जो दावा करता है कि यह मेरा शरीर है; यह मेरा मन है; यह मेरी संपत्ति है. इसलिए भगवान तीसरा कदम उठाते हैं और उस अज्ञान, अहंकार को दूर करते हैं, यह इंगित करने के लिए कि भगवान के अलावा कुछ भी नहीं है।

केनोपनिषद में यह कथा है। जब देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली तो वे अहंकारी हो गये। अब भगवान देवताओं को सबक सिखाने के लिए एक रहस्यमय यक्ष के रूप में आये। यक्ष अग्नि देवता से घास का एक तिनका जलाने के लिए कहता है। अग्नि घास के तिनके को जलाने की कोशिश करती है लेकिन ऐसा नहीं कर पाती। अग्नि को एहसास होता है कि अग्नि सिद्धांत ही ईश्वर है। भगवान वायु देवता से घास का एक तिनका उठाने के लिए कहते हैं। वह सक्षम नहीं है. यह सब ईश्वर के मूल स्वभाव को दर्शाता है।

आज भगवान गीता के माध्यम से जब भगवान अपने स्वरूप का वर्णन इतने विस्तार हर उदाहरण के साथ कर रहे है, तो उस का केवल एक मात्र उद्देश्य अर्जुन की हर शंका का निवारण करना है जो उस के स्वरूप को पहचानने की कोशिश कर रहा है। अर्जुन यानि हम गीता के महान ग्रंथ से इस को पढ़ रहे है, इस लिए भगवान की प्रत्येक वाणी पर हमारी श्रद्धा एवम विस्वास भी अर्जुन के समान ही होना आवश्यक है। गीता जैसे ज्ञान से जुड़ पाना, उस की प्रेरणा के बिना संभव नही।

अक्सर हम अच्छी पुस्तक पढ़ते है, भगवान के वचन को मानते है, अपने तर्कों एवम विचारों में उल्लेख भी करते है किंतु श्रद्धा एवम विस्वास नही रख पाते। जिस के कारण आज भी कर्म तो कर रहे है किंतु निष्काम कर्मयोगी नही हो पाते। हम गीता या तो अपनी समस्या का अंत करने के आस्था के साथ पढ़ते है या फिर अपने ज्ञान को दूसरों में बांटने के आत्म संतोष के लिये। इसलिये जब तक राजसी या तामसी वृति का प्रभाव रहता है, गीता का सही अर्थ नही ग्रहण कर पाते, किन्तु जैसे ही सात्विक भाव बढ़ता है, गीता के प्रति हमारा अध्ययन गहन होता जाता है। यह अध्ययन गहन हो, ज्ञान के यह छह अध्याय हर विषय को विभिन्न कोण से बार बार प्रस्तुत होंगे, जिस से शंका की कोई गुंजाइश न रहे। अतः इसे हम आगे भी अधिक विस्तृत रूप में परब्रह्म के स्वरूप को पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.10।।

॥ श्रीमद्‍भगवद्‍गीता ॥ 7.11॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

"balaḿ balavatāḿ cāhaḿ,
kāma- rāga- vivarjitam.. l
dharmāviruddho bhūteṣu,
kāmo 'smi bharatarṣabha".. l l

भावार्थ:

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मैं बलवानों का कामना-रहित और आसक्ति-रहित बल हूँ, और सब प्राणीयों में धर्मानुसार (शास्त्रानुसार) विषयी जीवन हूँ। (११)

Meaning:

I am strength in the strong that is free from desire and attachment, and I am desire in beings that is consistent with duty, O scion of the Bharataas.

Explanation:

Shri Krishna further adds to the list of Ishvara's vibhootis in this shloka. He says that Ishvara is the strength that is free of selfishness and attachment and the desire that is selfless.

Krishna wants to divide the strength into two types: One is positive strength, which is responsible for positive effects; constructive things; that also requires strength and the second is negative strength, brutal strength, adhārmic strength, which is the cause of all destruction and having divided this strength into these two; constructive and destructive strengths, in the purāṇās we will find all the rākṣasās also had strength, but it is destructive; the strength of Hiraṇyakaśipu; Hiraṇyākṣa; Rāvaṇā, all of them and we also see strength in Anjaneya; in Rāma etc. What is the difference? One is constructive and the other destructive and therefore Krishna very intelligently says I am the constructive strength in the strong people.

what is the definition of constructive strength. Dhārmica balam; positive strength. Krishna beautifully defines; it is free from kāma rāgaḥ vivarjitam; strength which is not backed by selfish desires. Only when selfishness dominates, the strength will become destructive, because to become great, I have to suppress and destroy others.

Desire is an active craving for things not attained. Fuelled with passion, one achieves and experiences the desired objects. But this causes attachment, which is a passive mental emotion that provokes the thirst for more. Selfish actions generate attachment which binds us to the material world. The more selfishly we act, the further we move away from Ishvara acting through us. Only when we act selflessly does Ishvara act through us. Shri Krishna says that Ishvara is that desire which is not selfish, or which is consistent with one's duty. Therefore, when Shree Krishna states kāma- rāga- vivarjitam; He means "devoid of passion and attachment."

Explaining the nature of His strength, He says that He is the serene and sublime strength in people, which empowers them; to successfully fulfil their duties and responsibilities.

In the Mahabharata, the Pandavaas knew that they could not target Drona directly because he was too powerful. Instead, they targeted someone whom he was deeply attached to - his son Ashwaththaamaa. The more we turn towards Ishvara, the less we get attached to people and worldly objects.

Now in the second line, Krishna says, I am desire also; that means what I am impurity also; because in the previous line desire is an impurity; how to resolve this problem? just as we divided strength into two types, we have to know that desires are also of two types; desires are also of two types one is called dhārmica desire or kāmaḥ; and the other is adhārmica kāmaḥ; those desires which will help me grow spiritually, constructive desires and those desires which will pull me down spiritually, destructive desires; adhārmica kāmaḥ.

Shri Krishna concludes the topic of his vibhootis with this shloka. A much more in-depth discussion on this topic is found in chapter ten of the Gita.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में बुद्धि, विवेक और तेज को अपना स्वरूप बताने के बाद, भगवान किसी कार्य को करने के लिए दो गुण सामर्थ्य और इच्छा के विषय में कहते है।

प्रकृति में तामसी गुणों में राग - द्वेष को प्रमुख मानते हुए काम - क्रोध से बचने को कहा गया है। जीव जब प्रकृति के नियम में आलस्य त्याग कर परिश्रम करता है तो वह जो भी क्षेत्र हो, जैसे अध्ययन, व्यापार, अध्यात्म, भक्ति, शक्ति या जनहित का नेतृत्व आदि सभी में कुशलता और सामर्थ्य प्राप्त करता है। यह सामर्थ्य उसे कीर्ति, ऐश्वर्य, बल और आत्मविश्वास देता है। समाज में 5% लोग ही कुशलता और

सामर्थ्य को प्राप्त कर पाते है। इसलिए यह बल यदि निकृष्ट हो जाए तो तामसी गुणों में परिवर्तित हो जाता है और जीव कामना, आसक्ति में भोग विलास की जिंदगी और लोगो को कष्ट देने लगता है। संसार में रावण, हिरणकाश्यप, कंस, हिटलर, सद्दाम आदि अनेक उदाहरण है। किंतु यही सामर्थ्य यदि सत्व गुण का हो तो जनहित में कार्य करने का बल प्रदान करता है।

आसक्ति व कामना सयुक्त बल तामसिक तथा आसुरी बल है क्योंकि उस का संबंध देह अभिमान एवम इस संसार से जुड़ा है। अतः बलवानों का जो कामना और आसक्ति से रहित सात्विक एवम देवी बल ओज सामर्थ्य है वह मैं हूँ। अभिप्राय यह कि अप्राप्त विषयों की जो तृष्णा है उसका नाम काम है और प्राप्त विषयों में जो प्रीति तन्मयता है उसका नाम राग है उन दोनों से रहित केवल देह आदि को धारण करने के लिये जो बल है वह मैं हूँ। जो संसारी जीवों का बल कामना और आसक्ति का कारण है वह मैं नहीं हूँ। प्राणियों में जो धर्म से अविरुद्ध शास्त्रानुकूल कामना है जैसे देह धारण मात्र के लिये खाने पीने की इच्छा आदि वह (इच्छारूप) काम भी मैं ही हूँ।

सामान्यत मनुष्य में जब कामना व आसक्ति होती है तब वह अथक परिश्रम करते हुये दिखाई देता है और अपनी इच्छित वस्तु को पाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है। कामना और आसक्ति इन दो प्रेरक वृत्तियों के बिना किसी बल की हम कल्पना भी नहीं कर पाते हैं। यद्यपि सतही दृष्टि से काम और राग में हमें भेद नहीं दिखाई देता है तथापि शंकराचार्य अपने भाष्य में उसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं. अप्राप्त वस्तु की इच्छा काम है और प्राप्त वस्तु में आसक्ति राग कहलाती है। मन की इन्हीं दो वृत्तियों के कारण व्यक्ति या परिवार समाज या राष्ट्र अपनी सार्मथ्य को प्रकट करते हैं। हड़ताल और दंगे उपद्रव और युद्ध इन सबके पीछे प्रेरक वृत्तियां हैं काम और राग। **श्रीकृष्ण कहते हैं मैं बलवानों का काम और राग से वर्जित बल हूँ।** यहाँ हम जिस बल की बात कर रहे है वो निष्काम कर्मयोगी के लोकसंग्रह के लिए कार्य की कामना एवम बल है।

कठिन से कठिन काम करते हुए भी अपने भीतर एक कामना आसक्ति रहित शुद्ध निर्मल उत्साह रहता है। काम पूरा होने पर भी मेरा कार्य शास्त्र और धर्म के अनुकूल है तथा लोकमर्यादा के अनुसार सन्तजनानुमोदित है ऐसे विचार से मन में एक उत्साह रहता है। इसका नाम बल है। यह बल भगवान् का ही स्वरूप है। अतः यह बल ग्राह्य है।

स्पष्ट है कि यहाँ सामान्य बल की बात नहीं कही गयी है। इस कथन से मानों उन्हें सन्तोष नहीं होता है और इसलिये वे आगे और कहते हैं प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम मैं हूँ। **जिस के कारण वस्तु का अस्तित्व होता है वह उस का धर्म कहलाता है। मनुष्य का अस्तित्व चैतन्य आत्मा के बिना नहीं हो सकता अत वह उस का वास्तविक धर्म या स्वरूप है। व्यवहार में जो विचार भावना और कर्म उसके दिव्य स्वरूप के विरुद्ध नहीं है वे धर्म के अन्तर्गत आते हैं। जिन विचारों एवं कर्मों से अपने आत्मस्वरूप को पहचानने में सहायता मिलती है उन्हें धर्म कहा जाता है और इसके विपरीत कर्म अधर्म कहलाते हैं क्योंकि वे उसकी आत्मविस्मृति को दृढ़ करते हैं।** उनके वशीभूत होकर मनुष्य पतित होकर पशुवत् व्यवहार करने लगता है। धर्म की परिभाषा को ध्यान में रखकर इस श्लोक के अध्ययन से उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। धर्म के अविरुद्ध कामना से तात्पर्य साधक की उस इच्छा तथा क्षमता से है जिसके द्वारा वह अपनी दुर्बलताओं को समझकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न

करता है और आत्मोन्नति की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है। भगवान् के कथन को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मैं साधक नहीं वरन् उसमें स्थित आत्मज्ञान की प्रखर जिज्ञासा हूँ।

अतः है अर्जुन ! मेरी प्राप्ति के लिये इच्छा कर। सब कामनाये वर्जित है किंतु मुझे पाने की कामना आवश्यक है। इस के साधन कर, क्योंकि मेरे पाने की साधना का बल एवम कामना मेरी ही देन है, वो मैं ही हूँ।

भगवान का यह ज्ञान उस दिव्य चक्षु के समान है जो उस के विराट स्वरूप के दर्शन कराता है। अभी अपने हृदय भाव मे यह भाव को और अधिक सरल करे की ईश्वर किस तरह हमारे चारो ओर प्रकट स्वरूप में विद्यमान है।

किसी भी कार्य के बल, बुद्धि, और प्रेरणा की आवश्यकता होती है, जब तक लक्ष्य नही हम कुछ नही करते। इस लक्ष्य को करते करते जब जीव अंदर आसक्ति और कामना घेर लेते है तो वह कर्म लोकसंग्रह का न हो कर, स्वार्थ पूर्ण हो जाता है। भगवान कहते है निष्काम भाव का बल और धर्म के अनुसार जो भी सीमित कामनाएं है जिस से यह संसार चलता रहता है, वह मैं हूँ। क्योंकि वह सृष्टि यज्ञ चक्र का भाग है जिस से यह प्रकृति अपना कार्य करती है। लेकिन जो बल लोभ, मोह, कामना एवम अहंकार से ग्रसित है, वह आसुरी है, इस उदाहरण हमारे सामने दुर्योधन का है। वह परब्रह्म का स्वरूप नही हो सकता।

प्रश्न यही है जब सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा से है तो यह आसुरी वृति क्यों नही। जल का सामान्य अर्थ स्वच्छ जल से होता है जो सामान्य जन के लिये उपयोगी हो। किन्तु दूषित या गंदगी से सना जल, यद्यपि जल तो है किंतु वह उपयोगी नही। प्रकृति से विकृत कोई भी वस्तु परमात्मा का स्वरूप नही होती, जब तक वह विकृति से मुक्त नही होती।

व्यवहार में जिंदगी में बुद्धि, तेज और बल होने से हम जिस भी क्षेत्र में कार्य करेंगे, सफलता हमें प्राप्त होगी। इस सफलता में जो लोग समझते है कि यह उन्हे भगवान से आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त हुई है क्योंकि इस में जितने भी संयोग और प्रेरणा जुड़ी है, वह उसी परमात्मा की देन है तो उन्हे अपने उत्थान और श्रेष्ठ होने का अभिमान नहीं होता और वे कामना और आसक्ति रहित हो कर अपने सामर्थ्य का उपयोग जनहित में करते है, इसी के साथ भगवान ने यह भी कहा कि मैं इन सब में धर्मयुक्त काम अर्थात इच्छा भी हूं। जिस से भगवान किसी भी व्यक्ति को बल और सामर्थ्य से प्राप्त धन, ऐश्वर्य और कीर्ति का सीमित उपभोग भी करने की भी बात कर रहे है। जो धन, कीर्ति और ऐश्वर्य बुद्धि, तेज और बल से प्राप्त किया है, वह सर्वथा त्यागने योग्य नहीं है उस से जीव को नैतिकता और धर्म युक्त हो कर उपभोग करे और शेष जनहित में लगाए। उस की उस तेज, बुद्धि और सामर्थ्य द्वारा अर्जित धन, ऐश्वर्य या कीर्ति के प्रति कोई कामना या आसक्ति ऐसी नही होनी चाहिए जो उसे रज या तमो गुण की ओर ले जाए और वह लोभ, मोह, काम और राग - द्वेष में फस जाए। भगवान श्री कृष्ण ने भी राज्य का सुख भोगा और भगवान राम ने भी। किंतु आसक्ति रहित उन का यह सामर्थ्य जनहित के लिए था। यदि कोई उच्च शिक्षा द्वारा डॉक्टर, इंजियर, वैज्ञानिक, खिलाड़ी, CA , CS, वकील आदि या सफल उद्योगपति, या व्यापारी या राजनेता या सैनिक बनने की इच्छा रखता है और उस के आलस्य त्याग कर प्रयास करता

है, जो उस स्थान पर पहुंच कर उस पद के अनुरूप जीवन जीना और लोकहित में कार्य करना और अन्य किसी कामना आसक्ति से मुक्त होना भी परमात्मा का ही स्वरूप है। इसलिए जितना तेज हम योगी के मुख पर देखते है, उतना ही तेज कलाम, होमी जहांगीर, बाल गंगाधर तिलक या dr राधाकृष्णन, जय दयाल जी गोएनका, हनुमान जी पोद्दार आदि कर्मयोगी के चेहरे में देखते है। सादगी हमे सुधा और नारायण मूर्ति, रतन टाटा और बिल गेट्स आदि उद्योगपतियों में भी देखने को मिलती है। यह सब कर्मयोगी की बुद्धि, तेज और बल परमात्मा का स्वरूप है।

यदि अभी तक भगवान के द्वारा अपने प्रकट रूप को हम देखे तो उन्होंने अपरा अर्थात स्थूल रूप के सात्विक मूल को अपना स्वरूप बताया है। किंतु यह स्थूल रूप जिस में ईश्वर का स्वरूप बसता है वो भी प्रकृति का ही रूप है और प्रकृति भी अपरा होने से भगवान का स्वरूप है। इस को समझने के लिए अभी तक हम ने प्रकट स्वरूपो में भगवान को पाया अब इस को अगले श्लोक में उपसंहार करते हुए अप्रकट स्वरूप में ईश्वर को पाएंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.11 ।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.12॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्चये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

"ye caiva sāttvikā bhāvā,
rājasās tāmasāś ca ye.. ।
matta eveti tān viddhi,
na tv ahaḿ teṣu te mayi".. ।।

भावार्थ:

प्रकृति के तीन गुण - सत्त्व-गुण, रज-गुण और तम-गुण से उत्पन्न होने वाले भाव उन सब को तू मुझ से उत्पन्न होने वाले समझ, परन्तु प्रकृति के गुण मेरे अधीन रहते है, मैं उन के अधीन नही हूँ। (१२)

Meaning:

And indeed, all saatvik qualities, and all raajasic and taamsic qualities, know those to be only from me. Know that I am not in them, but they are in me.

Explanation:

Shri Krishna began this chapter by indicating that Ishvara is the essence of everything. He also provided a short list containing tangible examples of his glories, which he concluded in the previous shloka. In this shloka, he

summarizes this point by saying that the three fundamental aspects of prakriti or nature arise from Ishvara but are subservient to Ishvara.

Krishna points out not only the external world, even the internal world of thoughts is a product of the Lord alone. Therefore, he says: bhāvāḥ which means antakaraṇa pariṇāmāḥ; the inner world of thoughts; inner world of vṛittihi; are called here bhāvāḥ; citta pariṇāmāḥ; and these thoughts are also a product of Īśvara only and according to the scriptures, even thoughts are inert by themselves; but they appear to be sentient; because of the pervasion of parā prakṛti.

And therefore, in the mind there are two parts; one part is the changing thought; and the other part is the changeless consciousness; the consciousness part belongs to parā prakṛti; the changing thoughts belongs to the aparā prakṛti. But the problem is the thought and consciousness are so intimately intertwined that we are not able to discriminate them.

In Pañcadaśi, Vidyāraṇya compares thoughts to greatest dancer of the world; how the dancer violently (not violently) moves the hands and legs so fast; similarly the mind assumes thoughts after thoughts; the thoughts are varying but there is one thing which is not varying at all; what is that?; I am conscious of your first sentence; conscious of your second sentence; conscious of your third sentence; conscious, conscious, conscious, …… no sentence; and even when the mind is blank without thoughts, I am conscious of what; the blankness of the mind.

Therefore, what is continuously and changelessly present; the consciousness is present which is called parā prakṛti; because whatever does not change is parā prakṛti; and what is aparā prakṛti; whatever changes is aparā prakṛti and what is changing. Thoughts: and Krishna says Arjuna, every thought that rises in your mind is my own aparā prakṛti; and then we saw before that parā prakṛti is nirguṇam and aparā prakṛti is saguṇam; and this aparā prakṛti is supposed to have three guṇas; satva, rajas and tamas. satva standing for knowledge faculty; and rajas standing for dynamism or activity; and tamas standing for dullness or delusion. So, knowledge, activity, and delusion, satva, rajas and tamas, are three guṇas belonging to aparā prakṛti; and now the thoughts which are products of aparā prakṛti, they also will have three guṇas.

है।

Sattva, rajas and tamas are the three aspects of prakriti or nature. A more detailed explanation of these three gunaas or aspects is provided in the 18th chapter. At the internal level, these aspects are the moods of our mind. A taamasic mind is dull, a raajasic mind is active and a saatvic mind is serene. Moreover, a saatvic object or thought is tied to knowledge, a raajasic object or thought is tied to activity and a taamasic thought or object is tied to ignorance, sloth or procrastination.

We see all these three aspects in our personality. The body is taamasic. It likes to be in stasis, it does not like to move. A lot of energy is required to move our bodies. Our limbs and our praanas or physiological processes are raajasic because they embody action and movement. Our mind and intellect are saatvic because they embody knowledge. Later in the Gita, Shri Krishna will classify everything, including desire and faith, into these three classications.

Now, all three aspects of prakriti cannot exist by themselves. Nothing can exist without a base or a support. Shri Krishna says that it is Ishvara who provides existence to these three aspects of prakriti. However, he qualifies that statement by pointing out that they are in Ishvara, but Ishvara is not in them. In other words, Ishvara can exist without the gunaas, but the gunaas cannot exist without Ishvara because they need his support.

What is the implication of this statement? Every object, person, or situation that we encounter in this universe is comprised of a permutation of the three gunaas. All three gunaas are supported by Ishvara. Therefore, Ishvara is everywhere, behind every object, person and situation in this universe.

So then, what prevents us from knowing Ishvara? Shri Krishna covers this topic next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान का यह कथन जो हम में पिछले आठ श्लोकों में पढ़ा कि हर वस्तु के मूल स्वरूप में वो ही विद्यमान है, इस श्लोक में ईश्वर का कहना है यद्यपि **जो कुछ सात्विक, राजस एवम तामस भाव अर्थात पदार्थ है वो मुझ से ही हुए है, वे मुझ में है किंतु मै उस मे नही हूँ अत्यंत गंभीर अर्थ रखता है।**

सब से पहले "भाव" शब्द को समझे, जब हम किसी विचार को करते, सुनते, देखते या अनदेखा करते है तो उस समय मस्तिष्क में एक संवेदना या जागरूकता बनी रहती जो हमे हमारे कृत्य को बताती

रहती है। यही भाव है। भाव मस्तिष्क की वह अवस्था है जिस के अनुसार हम किसी वस्तु, विचार या कार्य को ग्रहण करते है। प्रकृति के अनुसार भाव शुद्ध या अशुद्ध या दोनो का मिश्रित स्वरूप हो सकता है। भाव के अनुसार हम अपने कार्य को भी करते है। इसलिए जाने अंजाने में भाव हमे समय समय पर सचेत या किसी कार्य को चलाए मान भी रखने में सहायक होता है। एक कुशल नृत्य करने वाले के पांव, हाथ और शरीर में लय और ताल उस के अभ्यास के बाद भाव द्वारा स्वत: ही तैयार कर दिए जाते है।

न्यायिक शास्त्र में प्रकृति को ही सर्वोपरि मानते हुए, सृष्टि के विकास की बात कही गई है। किंतु जो देखता, सोचता, महसूस करता है, वह अवश्य प्रकृति से भिन्न होगा, इसलिए सांख्य में प्रकृति और जीव से सृष्टि की रचना की बात की गई है। सांख्य में जीव और प्रकृति दोनो ही स्वतंत्र है। वेदांत में प्रकृति और जीव दोनो का मूल एक ही परब्रह्म को कहा गया है। इसलिए गीता में वेदांत के अनुसार भगवान श्री कृष्ण प्रकृति को अपने आधीन होने की बात कहते है।

प्रकृति में शुद्ध भाव सत्व गुण, अशुद्ध भाव तम तथा मिश्रित भाव रज कहा गया है। जीव इसी भाव से मिश्रित हो कर समस्त क्रियाओं को करता है किंतु परब्रह्म इन सभी भावो में होते हुए भी इन सब से परे है।

इस के अर्थ को हमे समझने के लिये एक उदाहरण लेना होगा। जैसे हम आस्था रखते है मूर्ति में भगवान है और उसे पूजते है अतः यह आस्था, मूर्ति एवम पूजना समस्त प्रकृति जनित क्रियाओं का भाग है अतः परमात्मा का ही अंश होगा। किन्तु परमात्मा अकर्ता, निर्लिप्त एवम साक्षी मात्र होने से इन समस्त क्रियाओं से परे है, इसलिये यह सब परमात्मा का स्वरूप तो है किंतु परमात्मा नही।

एक अन्य उदाहरण ले कि आप को भूख एवम प्यास लगती है एवम आप इस के लिये परिश्रम भी करते है, इस भूख, प्यास एवम परिश्रम में आप है किंतु भूख, प्यास एवम परिश्रम आप नही। इसी प्रकार मेघो में पानी होता है किंतु पानी मे मेघ नही रहता। वैसे ही मेघो की हलचल से बिजली कौंधिति है किंतु वो उस मेघो में है ऐसा नही कहा जा सकता एवम अग्नि जलने से धुआं होता है अतः अग्नि में धुंआ हो सकता है किंतु धुवे में अग्नि नही होती।

मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इंद्रियाओ के विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण- अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव है सभी को प्रकृति के त्रियामी गुणों में विभाजित किया है अतः समस्त भाव सात्विक, राजस एवम तामस भावों के अंतर्गत है।

प्रकृति के तीन गुण कोई प्रकृति की विशेषता नही है, जिस से हम प्रकृति को इन तीन गुणों के कुछ अतिरिक्त भी समझे। प्रकृति का एक स्वरूप यह तीन गुण ही है, इसलिये प्रकृति को त्रियामी प्रकृति भी कहते है।

सृष्टि की रचना अपरा प्रकृति के अंतर्गत पंच तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवम तीन भाव मन, बुद्धि एवम अहंकार से होती है। यह समस्त आठ तत्व प्रकृति के मूल त्रियामी गुणों में कार्य करते है। इन सभी पदार्थो का विकास, विस्तार एवम विनाश भगवान की अपरा प्रकृति के अंतर्गत होता है। इसलिये यह समस्त भगवान का ही स्वरूप है।

भगवान की परा प्रकृति भी है जो जीव है, परमात्मा से पृथक हुआ एक अंश माना गया है एवम जो इस अपरा प्रकृति में लिप्त हो गया है। इसी जीव के कारण अपरा प्रकृति का संचालन होता है और हम इसे चेतना भी कहते है।

हम में पहले भी पढ़ा था कि प्रकृति का संचालन परमात्मा माया द्वारा त्रियामी गुणों से करता है तो भी वो कर्ता नही है। वो साक्षी मात्र है, समस्त क्रियाएं कार्य -कारण के सिंद्धान्त में कार्य करती है और जीव अपने भाव के अनुसार उन के फल को प्राप्त करता है। अतः सात्विक, राजस एवम तामस भाव से किये सभी कार्यो एवम विकारों में परमात्मा होता है किंतु परमात्मा में यह कोई भी भाव नही होता। क्योंकि समस्त संसार का संचालन करता हुआ भी परमात्मा मात्र साक्षी एवम अकर्ता ही है।

इसी बात को यहाँ कहा है कि मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय हूँ और इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सात्त्विक राजस और तामस ये भाव मेरे से ही होते हैं।भगवान् ने विज्ञान सहित ज्ञान कहने की प्रतिज्ञा कर के जानने वाले की दुर्लभता बताते हुए जो प्रकरण आरम्भ किया उस में अपरा और परा प्रकृति का कथन किया। अपरा और परा प्रकृतियों को सम्पूर्ण प्राणियों का कारण बताया क्योंकि इनके संयोग से ही सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। फिर अपने को इन अपरा और पराका कारण बताया। यही बात विभूतियों के वर्णन का उपसंहार करते हुए यहाँ कही है कि सात्त्विक राजस और तामस भावों को मेरे से ही होने वाला ज्ञान है। मैं उन में नहीं हूँ और वे मेरे में नहीं हैं। तात्पर्य है कि उन गुणों की मेरे सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं। वे सात्त्विक राजस और तामस जितने भी प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ हैं वे सब के सब उत्पन्न और नष्ट होते हैं। परन्तु मैं उत्पन्न भी नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता। अगर मैं उन में होता तो उन का नाश होने पर मेरा भी नाश हो जाता परन्तु मेरा कभी नाश नहीं होता इसलिये मैं उन में नहीं हूँ। अगर वे मेरे में होते तो मैं जैसा अविनाशी हूँ वैसे वे भी अविनाशी होते परंतु वे तो नष्ट होते हैं और मैं रहता हूँ इसलिये वे मेरे में नहीं हैं।

ऐसे ही आठवें श्लोकसे लेकर यहाँ तक जितनी (सत्रह) विभूतियाँ बतायी गयी हैं वे सब मेरे से ही उत्पन्न होती हैं मेरे में ही रहती हैं और मेरे में ही लीन हो जाती हैं। परंतु वे मेरे में नहीं हैं और मैं उन में हूँ। मेरे सिवाय उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस दृष्टि से सब कुछ मैं ही हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् के सिवाय जितने सात्त्विक राजस और तामस भाव अर्थात् प्राकृत पदार्थ और क्रियाएँ दिखायी देती हैं उनकी सत्ता मान कर और उनको महत्ता देकर ये मनुष्य उन में फँस रहे हैं । अतः भगवान् उन मनुष्यों का लक्ष्य इधर कराते हैं कि इन सब पदार्थों और क्रियाओंमें सत्ता और महत्ता मेरी ही है। यह संदेश आडंबर के खिलाफ कड़ा संदेश है कि ईश्वर को अपने आस पास महसूस करो, हर वस्तु, प्राणी एवम दिनचर्या में ईश्वर को महसूस करो किन्तु नाशवान किसी भी वस्तु को ईश्वर न मानो। जो लोग प्रवचन देने वाले संत महात्मा को ईश्वर समंझ कर पूजने लग जाते है या कर्म कांड में मूर्ति, मंदिर उपासना, यज्ञ आदि की ही परमात्मा समझने लग जाते है। उन के लिये भी ईश्वर कहते है यह सत्य है मैं उन में हूँ किन्तु वो मुझ में हो सत्य नही है क्योंकि ईश्वर, अचल, निर्लिप्त अकर्ता एवम साक्षी है अतः अपरा या परा प्रकृति से उतपन्न किसी भी वस्तु को ईश्वर नही माना जा सकता। उस मे ईश्वर के स्वरूप को अवश्य ही देख सकते है क्योंकि वो ही सृष्टि का संचालक है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.12 ।।

।। प्रकृति एक परिचय और गुण ।। विशेष - 7.12 ।।

प्रकृति, व्यापकतम अर्थ में, प्राकृतिक, भौतिक या पदार्थिक जगत या ब्रह्माण्ड हैं। "प्रकृति" का सन्दर्भ भौतिक जगत के दृग्विषय से हो सकता है और सामन्यतः जीवन से भी हो सकता हैं। प्रकृति का अध्ययन, विज्ञान के अध्ययन का बड़ा हिस्सा है। यद्यपि मानव प्रकृति का हिस्सा है, मानवी क्रिया को प्रायः अन्य प्राकृतिक दृग्विषय से अलग श्रेणी के रूप में समझा जाता है। गीता में अध्याय 14 में प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन है, किंतु प्रकृति ही सृष्टि का महत्वपूर्ण घटक है जिस में परब्रह्म माया से संपूर्ण सृष्टि के संकल्प को साकार कर रहा है।

प्रकृति के नियम

आइंस्टीन ने एक बार कहा था कि ब्रह्मांड के बारे में सब से अबूझ बात यह है कि यह समझ में आने योग्य है। इसका मतलब यह है कि प्रकृति के नियम न केवल पृथ्वी पर बल्कि ब्रह्मांड पर भी लागू होते हैं। समय के साथ यह देखा गया है कि ब्रह्मांड में हर जगह, हर कण कुछ नियमों का पालन करता है जिन्हें प्रकृति के नियम कहा जाता है।

ब्रह्मांड में प्रत्येक कण एक पैटर्न का पालन करता है, जिस के कारण विज्ञान का अध्ययन बहुत हद तक वैध है। इस का अर्थ यह भी है कि प्रत्येक कण या वस्तु स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करती है। भौतिकी के नियम प्रकृति के मूलभूत नियम हैं जो हमें प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन जैसे कणों के गुणों और उन्हें नियंत्रित करने वाली शक्तियों के बारे में बताते हैं। नियमों के बिना किसी के लिए ब्रह्मांड को समझना असंभव होगा।

भौतिकी के नियम

प्रकृति के सबसे बुनियादी और निचली परत के नियम भौतिकी के नियम हैं। होम्स के नियम हमें बताते हैं कि करंट, वोल्टेज और प्रतिरोध एक दूसरे से कैसे संबंधित हैं और वे एक विद्युत सर्किट कैसे बनाते हैं।

ऐसा माना जाता है कि सभी नियम भौतिकी के अधिक मौलिक नियमों से प्राप्त हुए हैं, और समय के साथ, इन कानूनों की अधिक से अधिक खोज होती रहती है।

यह भी माना जाता है कि समीकरणों या कानूनों का एक समूह होता है, जिसे बाकी सभी कानूनों के लिए मानक कानून माना जाता है और अन्य सभी कानून उनसे प्राप्त किए जा सकते हैं।

कभी-कभी प्रकृति के नियमों की स्वतंत्रता पर सवाल उठाया जाता है, कि क्या केवल एक ही मानक कानून है या स्वतंत्र कानूनों का एक समूह है।

जीव विज्ञान के नियम

जीव विज्ञान के बुनियादी नियमों में से एक विकास का नियम है। भौतिकी के नियमों के विपरीत, यह किसी समीकरण या कुछ चर और स्थिरांक का वर्णन नहीं करता है जो विकास का वर्णन करते हैं।

विकास की अवधारणा कानून के लिए बहुत सहज है। यह दर्शाता है कि समय के साथ चीज़ें कैसी होंगी, कुछ प्रजातियाँ कैसे बदल सकती हैं या नहीं बदल सकती हैं, और प्रजातियाँ एक-दूसरे के साथ कैसे प्रतिस्पर्धा करती हैं। ऐसा लगता है मानो विकास का नियम ज्ञात तथ्यों के एक समूह के कारण सामने आया या उत्पन्न हुआ।

रसायन विज्ञान के नियम

रसायन विज्ञान में, प्रकृति के नियमों को उन टिप्पणियों के एक समूह के रूप में देखा जाता है जो प्रकृति से बनाए गए थे। वे प्रकृति में चीजों के व्यवहार के सारांश की तरह हैं।

तो, इन अवलोकनों के आधार पर, कुछ निश्चित धारणाएँ हैं।

सबसे पहले, एक प्रयोग कुछ निश्चित परिस्थितियों में किया जाता है, जिसके आधार पर कुछ निश्चित अवलोकन किए जाते हैं, जिन्हें परिकल्पना का नाम दिया जाता है। फिर, यदि ये व्यवहार और परिकल्पनाएँ सार्वभौमिक हैं या कई मामलों में सच होती हैं, तो उन्हें सिद्धांत कहा जाता है।

प्रकृति के नियमों की उत्पत्ति

ब्रह्माण्ड कल नहीं बना था. यह अरबों वर्षों से अस्तित्व में है, और प्रकृति के नियम भी ऐसे ही हैं। प्रकृति के इन नियमों को किसी ने नहीं बनाया; वे वैसे ही अस्तित्व में हैं जैसे ब्रह्मांड में है।

कुछ लोग भ्रमित हो सकते हैं कि यदि ये नियम अपरिहार्य हैं, तो उन्हें गणितीय समीकरणों में कैसे दर्शाया जाता है? प्रकृति को यह गणित कैसे पता चला? गणित की खोज नहीं हुई थी. बल्कि इस का आविष्कार कानूनों की बेहतर समझ के लिए किया गया था। अत: प्रकृति इन समीकरणों का पालन नहीं करती। बल्कि ये समीकरण उस बड़ी वास्तविकता की छाप हैं जो वहां मौजूद है। इसी प्रकार योग, ध्यान, चक्र, समाधि और सिद्धियां आदि भी प्रकृति से नियम से है, जिस पर अन्वेषण द्वारा यह क्रिया मशीनों और दवाइयों के माध्यम से की जा सके। पहले भी असुर भी ध्यान और योग से अनेक सिद्धियां प्राप्त कर लेते थे।

निष्कर्ष

प्रकृति के नियमों को एक पैटर्न या एक अवलोकन के रूप में देखा जाता है जो कुछ प्रयोगों को निष्पादित करके बनाया गया था। ये पैटर्न इस ब्रह्मांड में मौजूद हर चीज़ के लिए सत्य हैं। कुछ लोगों का मानना है कि ये नियम उस वर्तमान ब्रह्मांड के निर्माण के साथ ही बने थे जिसमें हम रहते हैं। यदि वर्तमान ब्रह्मांड का गठन अलग तरीके से हुआ होता, तो कानून अलग हो सकते थे। प्रकृति के नियमों पर भौतिकी, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान के परिप्रेक्ष्य से चर्चा की गई, जिन्हें विज्ञान के निर्माण खंड माना जाता है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जिस प्रकार से प्रकृति स्वयं में बदलाव करती है । समय समय पर अपने रुप में बदलाव लाती है कभी पतजड़ का मौसम तो कभी गर्मी का समय तो बरसात का तो कभी ठंड का मौसम आने से प्रकृति का सौन्दर्य इस हरियाली से है वो इस परिवर्तन से हमेंशा बनी रहती है ।

पुरुष और प्रकृति

सारा संसार प्रकृति को समझने में फँसा है। पुरुष और प्रकृति को तो अनादि से खोजते आए हैं। लेकिन वे यो◌े◌ं हाथ में आ जाएँ, ऐसे नहीं हैं। क्रमिक मार्ग में पूरी प्रकृति को पहचान ले उस के बाद में पुरुष की पहचान होती है। उस का तो अनंत जन्मों के बाद भी हल निकले ऐसा नहीं है। जबकि अक्रम मार्ग में ज्ञानी पुरुष सिर पर हाथ रख दें, तो खुद पुरुष होकर सारी प्रकृति को समझ जाता है। फिर दोनों सदा के लिए अलग-अलग ही रहते हैं। प्रकृति की भूलभूलैया में अच्छे-अच्छे फँसे हुए हैं, और वे करते भी क्या? प्रकृति द्वारा प्रकृति को पहचानने जाते हैं न, उस का कैसे पार पाएँ?

पुरुष होकर प्रकृति को पहचानना है, तभी प्रकृति का हर एक परमाणु पहचाना जा सकता है।

प्रकृति अर्थात् क्या? प्र = विशेष और कृति = किया गया। स्वाभाविक की गई चीज़ नहीं। लेकिन विभाव में जाकर, विशेष रूप से की गई चीज़, वही प्रकृति है।

प्रकृति तो स्त्री है, स्त्री का रूप है और 'खुद'(सेल्फ) पुरुष है। कृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा कि त्रिगुणात्मक से परे हो जा, अर्थात् त्रिगुण, प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त, 'तू' ऐसा पुरुष बन जा। क्योंकि यदि प्रकृति के गुणों में रहेगा, तो 'तू' अबला है और पुरुष के गुणों में रहा, तो 'तू' पुरुष है।

'प्रकृति लट्टू जैसी है।' लट्टू यानी क्या? डोरी लिपटती है, वह सर्जन, डोरी खुले, तब घूमता है, वह प्रकृति। डोरी लिपटती है, तब कलात्मक ढंग से लिपटती है, इसलिए खुलते समय भी कलात्मक ढंग से ही खुलेगी। बालक हो, तब भी खाते समय निवाला क्या मुँह में डालने के बजाय कान में डालता है? साँपिन मर गई हो, तब भी उस के अंडे टूटने पर उनमें से निकलने वाले बच्चे निकलते ही फन फैलाने लगते हैं, तुरंत ही। इस के पीछे क्या है? यह तो प्रकृति का अजूबा है।

प्रकृति का कलात्मक कार्य, एक अजूबा है। प्रकृति इधर-उधर कब तक होती है? उसकी शुरूआत से ज़्यादा से ज़्यादा इधर-उधर होने की लिमिट है। लट्टू का घूमना भी उसकी लिमिट में ही होता है। जैसे कि, विचार उतनी ही लिमिट में आते हैं। मोह होता है, वह भी उतनी लिमिट में ही होता है। इसलिए प्रत्येक जीव की नाभि, सेन्टर है और वहाँ आत्मा आवृत्त नहीं है। वहाँ शुद्ध ज्ञानप्रकाश रहा हुआ है। यदि प्रकृति लिमिट से बाहर जाए, तो वह प्रकाश आवृत्त हो जाता है और पत्थर हो जाता है, जड़ हो जाता है। लेकिन ऐसा होता ही नहीं है। लिमिट में ही रहता है। यह मोह होता है, इसलिए उसका आवरण छा जाता है। चाहे जितना मोह टॉप पर पहुँचा हो, लेकिन उसकी लिमिट आते ही फिर नीचे उतर जाता है। यह सब नियम से ही होता है। नियम से बाहर नहीं होता।

प्रकृति के तीन गुण से (सत्त्व , रजस् और तमस्) सृष्टि की रचना हुई है या यह माने की प्रकृति ही यह तीन गुण है। ये तीनों घटक सजीव-निर्जीव, स्थूल-सूक्ष्म वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं । इन तीनों के बिना किसी वास्तविक पदार्थ का अस्तित्व संभव नहीं है। किसी भी पदार्थ में इन तीन गुणों के न्यूनाधिक प्रभाव के कारण उस का चरित्र निर्धारित होता है।

गुण का शाब्दिक अर्थ है "गुण"। योग दर्शन और आयुर्वेद में, ३ गुण प्रकृति के आवश्यक गुण हैं जो सभी प्राणियों और चीजों में मौजूद हैं। प्रत्येक गुण एक विशिष्ट विशेषता से जुड़ा हुआ है:

सत्त्व = पवित्रता और ज्ञान

राजस = गतिविधि और इच्छा

तमस = अंधकार और विनाश

ये शक्तियाँ हर समय हमारे भीतर मौजूद रहती हैं और कुछ स्थितियों और अनुभवों पर हमारी प्रतिक्रियाओं में प्रकट होती हैं। हालाँकि, गुणों में से एक हमेशा अन्य दो की तुलना में अधिक प्रभावशाली होता है।

गुण शब्द से हमें किसी एक पदार्थ की प्रतीति न हो कर, उस गुण को धारण करने वाले अनेक पदार्थों की एक साथ प्रतीति होती है। जैसे खारा कह देने से तमाम खारे पदार्थों की प्रतीति होती है, न कि केवल नमक की। इस तरह हम देखते हैं कि गुण का अर्थ है किसी पदार्थ का स्वभाव। लेकिन साँख्य के त्रिगुण गुणवत्ता या स्वभाव नहीं हैं। यहाँ वे प्रकृति के आवश्यक घटक हैं। सत्व, रजस् और तमस् नाम के तीनों घटक प्रकृति और उस के प्रत्येक अंश में विद्यमान रहते हैं। इन तीनों के बिना किसी वास्तविक पदार्थ का अस्तित्व संभव नहीं है। किसी भी पदार्थ में इन तीन गुणों के न्यूनाधिक प्रभाव के कारण उस का चरित्र निर्धारित होता है। हमें अन्य तत्वों के बारे में जानने के पूर्व साँख्य सिद्धांत के इन तीन गुणों के बारे में कुछ बात कर लेनी चाहिए। सत्व का संबंध प्रसन्नता और उल्लास से है, रजस् का संबंध गति और क्रिया से है। वहीं तमस् का संबंध अज्ञान और निष्क्रीयता से है।

गुणों का मूल्यांकन वस्तु की शुद्धता के आधार पर है। जैसे 24 कैरट का सोना शुद्ध कह सकते है, जब कि इस मे 2 से 8 कैरट अशुद्धता आभूषण बनाने में उपयोगी होने से "रज" या उपयोगी मान सकते है, किन्तु इस से अधिक अशुद्धता होने से सोने का वर्गीकरण बेकार अनुपयोगी में होने लग जायेगा। यही सत-रज-तम गुण जड़ से ले कर चेतन्य सभी प्राणी में विभिन्न मात्रा में फैले है। जिन की कोई स्थिर मात्रा नही और बदलता रहना,इन का गुण है।

सत्वगुण का अर्थ "शुद्धता", "पवित्रता" तथा "ज्ञान" है। सत्व नाम अर्थात अच्छे कर्मों की ओर मोड़ने वाला गुण का है। तीनों गुणों (सत्त्व , रजस् और तमस्) में से सर्वश्रेष्ठ गुण सत्त्व गुण हे सात्विक मनुष्य – किसी कर्म फल अथवा मान सम्मान की अपेक्षा अथवा स्वार्थ के बिना समाज की सेवा करना ।

सत्त्वगुण दैवी तत्त्व के सबसे निकट है । इसलिए सत्त्व प्रधान व्यक्ति के लक्षण हैं – प्रसन्नता, संतुष्टि, धैर्य, क्षमा करने की क्षमता, अध्यात्म के प्रति झुकाव । एक सात्विक व्यक्ति हमेशा वैश्विक कल्याण के निमित्त काम करता है। हमेशा मेहनती, सतर्क होता है । एक पवित्र जीवनयापन करता है। सच बोलता है और साहसी होता है।

सत्व प्रकृति का ऐसा घटक है जिस का सार पवित्रता, शुद्धता, सुंदरता और सूक्ष्मता है। सत्व का संबंध चमक, प्रसन्नता, भारन्यूनता और उच्चता से है। सत्व अहंकार, मन और बुद्धि से जुड़ा है। चेतना के साथ इस का गहरा संबंध है। परवर्ती साँख्य में यह कहा जाता है कि चेतना के साथ इस का गहरा संबंध अवश्य है लेकिन इस के अभाव में भी चेतना संभव है। यहाँ तक कि बिना प्रकृति के भी चेतना का अस्तित्व है। लेकिन यह कथन मूल साँख्य का प्रतीत नहीं होता है अपितु यह परवर्ती सांख्य में वेदान्त दर्शन का आरोपण मात्र प्रतीत होता है जो चेतना के स्वतंत्र अस्तित्व की अवधारणा प्रस्तुत करता है।

रजस् प्रकृति का दूसरा घटक है जिस का संबंध पदार्थ की गति और कार्रवाई के साथ है। भौतिक वस्तुओं में गति रजस् का परिणाम हैं। जो गति पदार्थ के निर्जीव और सजीव दोनों ही रूपों में देखने को मिलती वह रजस् के कारण देखने को मिलती है। निर्जीव पदार्थों में गति और गतिविधि, विकास और ह्रास रजस् का परिणाम हैं वहीं जीवित पदार्थों में क्रियात्मकता, गति की निरंतरता और पीड़ा रजस के परिणाम हैं।

रजस् का अर्थ क्रिया तथा इच्छाएं है। राजसिक मनुष्य – स्वयं के लाभ तथा कार्यसिद्धि हेतु जीना । जो गति पदार्थ के निर्जीव और सजीव दोनों ही रूपों में देखने को मिलती वह रजस् के कारण देखने को मिलती है। निर्जीव पदार्थों में गति और गतिविधि, विकास और ह्रास रजस् का परिणाम हैं वहीं जीवित पदार्थों में क्रियात्मकता, गति की निरंतरता और पीड़ा रजस के परिणाम हैं।

तमस् प्रकृति का तीसरा घटक है जिस का संबंध जीवित और निर्जीव पदार्थों की जड़ता, स्थिरता और निष्क्रीयता के साथ है। निर्जीव पदार्थों में जहाँ यह गति और गतिविधि में अवरोध के रूप में प्रकट होता है वहीं जीवित प्राणियों और वनस्पतियों में यह अशिष्टता, लापरवाही, उदासीनता और निष्क्रियता के रूप में प्रकट होता है। मनुष्यों में यह अज्ञानता, जड़ता और निष्क्रियता के रूप में विद्यमान है।

तमस् का अर्थ अज्ञानता तथा निष्क्रियता है। तामसिक मनुष्य – दूसरों को अथवा समाज को हानि पहुंचाकर स्वयं का स्वार्थ सिद्ध करना | तम प्रधान व्यक्ति, आलसी, लोभी, सांसारिक इच्छाओं से आसक्त रहता है ।

तमस् गुण के प्रधान होने पर व्यक्ति को सत्य-असत्य का कुछ पता नहीं चलता, यानि वो अज्ञान के अंधकार (तम) में रहता है। यानि कौन सी बात उसके लिए अच्छी है वा कौन सी बुरी ये यथार्थ पता नहीं चलता और इस स्वभाव के व्यक्ति को ये जानने की जिज्ञासा भी नहीं होती।

गुण कहाँ पाए जाते हैं?

गुण माया (संसार की माया और उसके सभी विकर्षणों) के हर हिस्से में मौजूद हैं। उन्हें दिन, मौसम, भोजन, विचारों और कार्यों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, सुबह का समय सत्त्वगुण लाता है, दोपहर का समय राजसिक हो जाता है और रात का समय तमस लाता है।

इसलिए, रजस और तमस के बिना शुद्ध सत्त्व नहीं हो सकता, न ही तमस और सत्व के बिना शुद्ध रजस हो सकता है। सत्व हमें खुशी के साथ आसक्ति से बांधता है , राजस हमें गतिविधि से जोड़ता है, और तमस हमें भ्रम से जोड़ता है। जब तक हम तीनों गुणों में से किसी एक से प्रभावित होते हैं, तब तक हम माया के बंधन में रहते हैं।

गुण हमें कैसे प्रभावित करते हैं?

तीन गुण हमें गहराई से प्रभावित करते हैं। वे हमारे बारे में हर चीज़ को प्रभावित करते हैं , हमारे विचारों और कार्यों से लेकर आदतों और गतिविधियों तक जो हमें वह बनाती हैं जो हम हैं। इसका मतलब यह है कि जो भी गुण आपके भीतर अधिक मौजूद है, वह इस बात को प्रभावित करेगा कि आप दुनिया को कैसे देखते हैं । उदाहरण के लिए, मुख्य रूप से तामसिक व्यक्ति हर चीज़ को नकारात्मक

और विनाशकारी के रूप में देखेगा। दूसरी ओर, जो व्यक्ति अधिक सात्विक है, उसका दृष्टिकोण सकारात्मक होगा और वह हर चीज में आनंद और खुशी ढूंढेगा।

गुण की पहचान - कथा

एक छोटे, गरीब गाँव में, तीन दोस्तों ने बेहतर जीवन का सपना देखा। इसलिए, वे भारतीय गर्मियों की तेज़ धूप में चलते हुए, शहर का पता लगाने के लिए निकल पड़े। दोपहर तक, वे भूखे-प्यासे थे, और पास के जंगल में विश्राम के लिए रुक गए।

एक पेड़ की छाया के नीचे उनकी नजर फलों से लदे आम के पेड़ पर पड़ी। इसे अपनी भूख-प्यास मिटाने का वरदान समझकर सबसे पुराना मित्र पेड़ के पास पहुंचा। उसने जमीन पर पके आम देखे, उन्हें उठाया और उनका स्वाद लिया और इस उपहार के लिए भगवान को धन्यवाद दिया। फिर उन्होंने इस उम्मीद में बीज बोए कि वे भविष्य के यात्रियों को लाभ पहुंचाने के लिए एक पेड़ बन सकते हैं।

यह सत्व गुण है

इसके बाद दूसरा दोस्त पेड़ के पास चला गया। उसने देखा कि वह आमों और लकड़ियों को बाजार में बेच सकता है, जिससे खुद को फायदा हो सकता है। इसलिए, कुछ आमों का आनंद लेने के बाद, उसने अपने चतुर विचार पर गर्व करते हुए, फलों से भरी एक शाखा तोड़ दी और उसे ले गया।

यह राजस गुण है

आख़िरकार तीसरा दोस्त पेड़ के पास गया। स्वयं पेड़ उगाने के अपने असफल प्रयासों के बावजूद पेड़ की सफलता से ईर्ष्या करते हुए, उसने द्वेषवश इसे नष्ट करने का फैसला किया। लेकिन, उसने जो आम तोड़े वे कच्चे और खट्टे थे। वह नहीं जानता था कि अंतर कैसे बताया जाए, और सीखने के बजाय, उसने अपने क्रोध को अपने कार्यों पर हावी होने दिया और पेड़ को आग लगा दी।

यह तमो गुण है

इस कहानी में, तीन दोस्त तीन अलग-अलग गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं - कृतज्ञता और ज्ञान (सत्व), स्वार्थ (रजस), और नकारात्मक अहंकार (तमस)। हममें से प्रत्येक को इन गुणों में से एक द्वारा निर्देशित किया जाता है , जो हमारे सोचने, महसूस करने और कार्य करने के तरीके को प्रभावित करता है।

कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि, 'वेद तीन गुणों से बाहर नहीं हैं, वेद तीन गुणों को ही प्रकाशित करते हैं।' कृष्ण भगवान ने 'नेमीनाथ' से मिलने के बाद गीता कही थी, उससे पहले वे वेदांती थे। उन्होंने गीता में कहा, 'त्रैगुण्य विषयो वेदो निस्त्रैय गुण्यो भवार्जुन,' यह गज़ब का वाक्य कृष्ण ने कह दिया है! 'आत्मा जानने के लिए वेदांत से परे जाना,' कह दिया है! उन्होंने ऐसा कहा कि, 'हे अर्जुन! आत्मा जानने के लिए तू त्रिगुणात्मक से परे हो।' त्रिगुणात्मक कौन-कौन से? सत्व, रज और तम। वेद इन्हीं तीन गुणवाले हैं, इसलिए तू उनसे परे हो जाएगा तभी तेरा काम होगा। और फिर ये तीन गुण द्वंद्व हैं, इसलिए तू त्रिगुणात्मक से परे हो जा और आत्मा को समझ! आत्मा जानने के लिए कृष्ण ने वेदांत से बाहर जाने को कहा है, लेकिन लोग समझते नहीं है। चारों ही वेद पूरे होने के बाद वेद इटसेल्फ क्या कहते हैं?

दिस इज़ नोट देट, दिस इज़ नोट देट, तू जिस आत्मा को ढूँढ रहा है वह इसमें नहीं है। 'न इति, न इति,' इसलिए तुझे यदि आत्मा जानना हो तो गो टु ज्ञानी।

कृष्ण भगवान ने कहा है कि, 'यह जगत् भगवान ने नहीं बनाया है, लेकिन स्वभाविक रूप से बन गया है!'

मूल-साँख्य के अनुसार प्रधान (आद्य प्रकृति) में ये तीनों घटक साम्यावस्था में थे। आपसी अंतक्रिया के परिणाम से भंग हुई इस साम्यावस्था ने प्रकृति के विकास को आरंभ किया जिस से जगत (विश्व Universe) का वर्तमान स्वरूप संभव हुआ। हम इस सिद्धान्त की तुलना आधुनिक भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत विश्व के विकास (Evolution of Universe) के सर्वाधिक मान्य महाविस्फोट के सिद्धांत (Big-Bang theory) के साथ कर सकते हैं। दोनों ही सिद्धांतों में अद्भुत साम्य देखने को मिलता है।

अब एक परम गणितीय मॉडल बनाने का प्रयास किया जा रहा है जो स्पष्ट रूप से ब्रह्मांड की कार्यक्षमता का प्रतिनिधित्व करेगा। वैज्ञानिक किसी अंतिम नियम के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनका मानना है कि प्रकृति के वर्तमान नियम अतीत में हमारे ब्रह्मांड में जो कुछ हुआ उसका परिणाम हैं। यदि चीजें वास्तव में जो हुआ उससे भिन्न होतीं, तो ये कानून भिन्न हो सकते थे। इसका मतलब यह है कि प्रकृति के नियम समय के साथ बदल सकते हैं।

अंतिम विचार

आत्मज्ञान या समाधि प्राप्त करने में खुद को तीन गुणों से मुक्त करना और माया के भ्रम से परे सत्य को समझना शामिल है। एक व्यक्ति जो गुणों से ऊपर उठ चुका है, वह जीवन के द्वंद्वों, जैसे दर्द और सुख, से अप्रभावित रहता है। भगवद गीता के बुद्धिमान शब्दों में:

"जब कोई शरीर में उत्पन्न होने वाले तीन गुणों से ऊपर उठ जाता है;

व्यक्ति जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु से मुक्त हो जाता है; और आत्मज्ञान प्राप्त करता है" (भगवद गीता 14.20)

यह संक्षिप्त परिचय गीता को समझने के आवश्यक है क्योंकि गीता पढ़ते समय हम जो भी अर्थ या भावार्थ समझते है, वह हमारी प्रकृति के गुण के अनुसार होती है। जब तक सात्विक गुण नही प्राप्त होता, धर्म या ज्ञान का प्रत्येक कार्य कामना या आसक्ति के साथ ही होता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 7.12 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.13॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

"tribhir guṇa- mayair bhāvair,
ebhiḥ sarvam idaḿ jagat..।

mohitaṁ nābhijānāti,
mām ebhyaḥ param avyayam"..।।

भावार्थ :

प्रकृति के इन तीनों गुणों से उत्पन्न भावों द्वारा संसार के सभी जीव मोहग्रस्त रहते हैं, इस कारण प्रकृति के गुणों से अतीत मुझ परम-अविनाशी को नहीं जान पाते हैं। (१३)

Meaning:

This entire universe, deluded by these three modes in the form of gunaas, does not know me to be beyond these (gunaas) and imperishable.

Explanation:

With the previous verse Krishna concludes the topic of Īśvara svarūpam, the nature of God and what are the main points mentioned here:

1. God is a mixture of parā aparā prakṛti; that is cētana-acētana tatvam is No.1;

2. The second feature is God alone is the sṛṣṭi-sthithi laya kāraṇam of the world, is the creator, the preserver and the destroyer; sṛṣṭi-sthithi laya kāraṇam is the second important feature.

3. And the third important feature is God being the cause, He alone manifests as the entire world and therefore world is the manifestation of God; the world is divine; This is what I call Viśvarūpaḥ Īśvaraḥ; this is the third important feature.

4. And fourth and final thing is: since God is the cause and the world is the effect.

God has independent existence; therefore satyam; the world has dependent existence; therefore mithya.

tat ananyatvam arambhanam sabdadhibhyaha.

Vyasācārya writes a very important portion of Brahmasūtra based on this idea; it is called ārambhādhikaraṇaṁ; in Brahma sutra tad ananyatvam.

So far in this chapter, Shri Krishna indicated that Ishvara is the ultimate cause, that he pervades everything, the entire universe is a play of the three gunaas, and that he supports all the three gunaas but they do not impact him. In

theory, if we know this, then we should be a hundred percent clear about the true nature of Ishvara, which is the objective of this chapter. But there is still more to come. Why is that? It is because there is something in these three gunaas or aspects of nature that prevents us from accessing Ishvara.

Shri Krishna says that most people are deluded or confused about the true nature of Ishvara due to the overpowering effect of the three gunaas. This overpowering effect is our tendency to get carried away by name and form. It is our tendency to judge a book by its cover. We are so dazzled by the diversity of various forms of gold jewellery (the effect) that we fail to recognize that everything is ultimately gold (the cause).

Shree Krishna says that humans are deluded by the three modes of Maya (His material energy) that are ignorance, passion and goodness. These veil the human consciousness and cause fascination with the bodily pleasures which are short-lived. The word "Maya" is made from mā (not) and yā (what is). Thus, Maya means "that which is not what it appears to be."

Maya, being one of God's energies, is engaged in the service of hiding His true nature from the souls who are not yet eligible or God-realized. It lures and confuses the souls who are already vimukh (having their backs turned) from God. It also troubles them with problems and difficulties aided by the three-fold material miseries. By this, Maya makes the souls realize that they can never be happy unless they are sanmukh (their face turned) toward God.

Each gunaa or mode of nature has the ability to overpower us. Imagine a vendor at a vegetable market that has to haggle with his customers in order to turn a profit. A taamasic vendor can resort to any tactic including fraud to dupe unsuspecting customers, and potentially get caught doing so. A raajasic vendor can use fair, but aggressive negotiating tactics with even the shrewdest of his customers, eventually shrinking his customer base to zero. Now, we typically think that a saatvic vendor would follow the correct strategy, but this is not the case. Even saatva can overpower the vendor if he always gives in to the customer's negotiations and goes into a loss.

Now, let us see what exactly happened with each of the vendors. The taamasic vendor could only see the most tangible thing in front of him - the crisp note

that he can keep in his pocket as soon as the sale is made. He did not have the ability to think one step beyond the note, that he would get caught for fraud.

The raajasic vendor thought one step ahead and knew that he should not resort to anything illegal. But by always focusing on his personal gain, he missed the big picture in that he would eventually lose all his customers.

The saatvic vendor understood the big picture to some extent. But he forgot that he had to support a family at home, and therefore had to strike the right balance of maximizing his profit and making the customer happy.

So, what does all this have to do with Ishvara? All three vendors were deluded or overpowered by gunaas. This is because our mind and senses are made up of the very “stuff” of the gunaas, as we saw in a previous shloka in chapter 3. They run after prakriti or nature which is also made up of the gunaas. We are helpless because our senses and our mind is wired to focus on names and forms, and not the underlying essence or cause. We get so carried away by names and forms that we cannot comprehend that Ishvara who is beyond any name and form, any attribute or modification.

So then, how do we develop this ability to pierce through the three gunaas and understand the real nature of Ishvara? Shri Krishna tackles this topic next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में हम ने अपरा प्रकृति के आठ तत्व एवम परा प्रकृति के चेतन तत्व को जाना। यह चेतन तत्व ही प्रकृति के त्रियामी गुणों अर्थात सत, रज एवम तम से प्रकृति की माया से मोहित हो कर जीवन कर्म को भोगता है। भगवान कहते कि यह अपरा प्रकृति से ले कर परा प्रकृति एवम प्रकृति के संचालन में युक्त सात्विक, राजसी एवम तामसी इन सभी भावों में 'मैं' ही हूँ। किन्तु इन मे से कोई भी मुझ में नही है। यही भगवान की माया है जिस में हर प्राणी इस संसार मे मोहित हो कर माया के जाल में फस कर जीवन व्यतीत कर रहा है। वो इतना अधिक मोहित है कि वो स्वयं के स्वरूप को न देखते हुए इन त्रियामी भावों में मुझे देखता है। माया का जाल इतना सशक्त है कि माया में फसा हुआ प्राणी मुझे माया में, मेरी रचित अपरा - परा प्रकृति में इन्ही भावों में मुझे देखता है क्योंकि वहां में उस स्वरूप में तो अवश्य हूँ । किन्तु अज्ञान वश वो यह भूल जाता है प्रकृति के जिस भाव के द्वारा मुझे वो देख रहा है उस मे मैं हूँ किन्तु वो मुझ में नही है। उस को प्रकृति जन्य जीवन एवम कर्मो में सुख एवम आनन्द का आभास होता है एवम वो इसी जीवन मरण के कर्मबन्धन से मुक्त नही होना चाहता। वो मुझ इन्ही प्रकृति के स्वरूप में भजता है क्योंकि उसे मुक्ति भी इसी सांसारिक स्वरूप में चाहिये।

परमात्मा का यही कहना कि संपूर्ण सृष्टि में मैं विद्यमान हूं किंतु यह संपूर्ण सृष्टि मुझ में विद्यमान नही है। कार्य - कारण के सिद्धांत से भी इसी संपूर्ण सृष्टि का मैं ही कारण हूं किंतु मेरा कोई भी कारण नहीं है। इसलिए यह सृष्टि मुझ से ही उत्पन्न होती है और मुझ में ही विलय हो जाती है।

माया का शाब्दिक अर्थ यही है जो दिख रहा है या जिस के होने का भ्रम हो रहा है, वह वास्तव में नही है। जीव प्रकृति के साथ इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसे उस का जड़ शरीर एवम संसार ही सत्य दिखने लगता है जो वास्तव में नही है। ट्रेन में यात्रा करते समय फर्श को देखे या बाहर देखे तो हमे यही लगता है कि हम स्थिर है और रास्ते भाग रहे है। सौर मंडल में सूर्य से ले कर सभी ग्रह, पृथ्वी भी अपनी धुरी और सूर्य के चारो ओर चक्कर लगा रही है किंतु हम अपने को स्थिर मान रहे है। यही माया है।

ऐसा जो साक्षात् परमेश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव एवं सब भूतों का आत्मा गुणों से अतीत और संसाररूप दोष के बीज को भस्म करने वाला मैं हूँ उस को जगत् नहीं पहचानता भगवान् जगत् का यह अज्ञान किस कारण से है सो बतलाते हैं कि गुणों में विकाररूप सात्त्विक राजस और तामस इन तीनों भावों से अर्थात् उपर्युक्त राग द्वेष और मोह आदि पदार्थों से यह समस्त जगत् प्राणिसमूह मोहित हो रहा है अर्थात् विवेकशून्य कर दिया गया है अतः त्रिगुणों से उत्पन्न राग द्वेषादि विकारों के कारण मनुष्य अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर उपाधियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके केवल विषयोपभोग का ही जीवन जीते हैं।

भगवान का कथन का अभिप्राय हम यह मान सकते है कि मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण- अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव है और मृत्यु लोक से ले कर ब्रह्म लोक तक समस्त ब्रह्मांड सभी सात्विक, राजस और तामस भाव मे आते है। जगत के समस्त देहाभिमानी प्राणी- मुख्यतः मनुष्य ही अपने अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारों के अनुसार अनित्य और दुखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावों को ही नित्य और सुख के हेतु समझ कर इन की कल्पित रमणीयता और सुख रूपता की केवल ऊपर से ही दिखनेवाली चमक-दमक में जीवन के परम लक्ष्य को भूल कर, मेरे गुण, प्रभाव,तत्व, स्वरूप और रहस्य के चिंतन और ज्ञान से विमुख हो कर विपरीत भावना और असंभावना कर के मुझ में अश्रद्धा करते है। इन तीनो विकारों में रचे पचे रहने के कारण उन की विवेक दृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयो ले संग्रह करने और भोगने के सिवा जीवन का अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नही सोच और समझ सकते है एवम सभी अपने अपने कर्मो में अत्यधिक व्यस्त होने से सांसारिक जीवन को ही मुझे न भजते हुए जीते है।

इस को सरल एवम सांसारिक भाषा मे समझे तो हमे ज्ञात होगा कि ईश्वर को उन की बनाई हुई रचना में अपनी सांसारिक आवश्यकताओं के अनुसार तलाश कर रहे है। दुकान में बैठ कर माल बेचने वाला मालिक हो या ग्राहक बन कर सामान ख़रीदने वाला ही ग्राहक हो जरूरी नही। उन के पीछे बैठ कर उन को निर्देश देने वाला मालिक कोई और भी हो सकता है। किंतु हम जो प्रत्यक्ष है उसे ही सत्य समझ लेते है। माया एवम सत, रज एवम तम गुण के कारण हम इस माया को तोड़ कर बाहर नही जाते और घर गृहस्थी, व्यापार, व्यवसाय, मंदिर, पूजा, तीर्थ, भजन कीर्तन, समाज, देश और दुनिया के प्रायः सभी कार्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये करते है। त्रिगुण होने से संत से ले कर अपराधी प्रवृति तक सभी इसी संसार मे अपने अपने कार्यो में लगे है। हम यह भूल जाते है जिसे हम भगवान समझ कर पूजे

जा रहे है उस मे भगवान तो है किंतु भगवान में वो नही। क्योंकि परमात्मा अनित्य, निर्लिप्त, अजन्मा एवम अकर्ता है। वो इस माया जाल से परे है और हम माया में मोहित हो कर कर्म कर रहे है।

द्वैत वाद एवम अद्वैत वाद का अंतर समझने से यह समझ में आ जायेगा कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहिन्द्रीय का धर्म है, न कि आत्मा का, आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है, इंद्रियां ही उस की भ्रमित करती है।

यहाँ यह कहना अनुचित नही होगा कि जीव अपने अज्ञान में ही संतोष करता है, जिसे धर्म की व्याख्या करने वाले बखूबी से भुनाते है। व्हाट्सएप्प या अन्य चैटिंग पर आत्म संतोष के लिये, धन के बल पर कथा करने और कराने वाले एवम जगत में या जगत के उपरांत सुख को भोगने की कामना में जीव अपने अज्ञान को ही प्रकृति की माया में भोगता है। ज्ञान का यह गूढ़ श्लोक आगे हम विस्तार से तभी समझ सकते है, जब हम अर्जुन की भांति एकाग्र हो कर भगवान श्री कृष्ण की उपदेश का अवलोचन करे। ध्यान रहे। गीता सुन कर संजय ने भी सुनाई थी और धृष्टराष्ट्र ने सुनी भी थी किन्तु दोनो ही अपने अज्ञान से बाहर नही निकल सके।

पूर्व के श्लोक में प्रकृति के गुणों से उत्पन्न भाव को अपना स्वरूप भगवान कहते है। सत्व गुण में परमात्मा के प्रति श्रद्धा, प्रेम, विश्वास के साथ स्मरण और समर्पण का भाव जिस गुण (सत, रज या तम) में जितना तीव्र होगा, उतना की संवेग परमात्मा की प्राप्ति और ज्ञान का जीव में होगा।

प्रकृति में जीव के स्वरूप के तीन भेद किए गए है, जिसे हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कह सकते है। अज्ञान में को जीव स्थूल शरीर को अपना स्वरूप समझता है, वह तामसी गुणों के युक्त हो कर स्थूल शरीर के सुखों को खोजता है और उसी कारण दुख, संताप और कर्म के बंधनों में फस कर जन्म - मरण को भोगता है। किंतु जिसे अपने लिंग स्वरूप का ज्ञान तो है किंतु उस का ब्रह्मज्ञान नही होता, वह रजो या रजो के साथ सत्व गुण युक्त होता है, इसलिए लिंग शरीर के गुण दोष यानि काम, क्रोध, राग - द्वेष, मोह, लोभ आदि को भोगता है और दुख को प्राप्त होता है। कारण शरीर वाला अज्ञान में न तो अपने स्थूल शरीर को पहचान पाता है और न ही सूक्ष्म शरीर को। इस के कारण वह किसी भी गुण में स्थिर नहीं होने से अज्ञान से दुख को भोगता रहता है। अपने स्वरूप को जानने के लिए अज्ञान को मिटना आवश्यक है। अज्ञान सत्व गुण में ही मिट सकता है। एक बार सत्व गुण आ जाने से वह निष्काम और निर्लिप्त भाव में अपने प्रारब्ध के कर्म को निमित्त मान कर करता है, यही कर्मयोग का ज्ञान भी है। किंतु उस का द्वैत भाव नहीं मिटने से वह परब्रह्म को नही प्राप्त होता, इस के लिए उसे गुणातित होना होगा।

सिनेमा हॉल में बैठा व्यक्ति कभी कभी सिने नाटक में इतना खो जाता है कि वह भूल जाता है कि जो वह देख रहा है, वह नाटक है। वह नायक के समरूप हो कर भावनाओ में बहने लगता है। जीव भी जब प्रकृति के साथ जुड़ जाता है तो उस के चारो ओर प्रकृति का नृत्य शुरू हो जाता है। वह भूल जाता है कि वह ब्रह्म स्वरूप नित्य, साक्षी और अकर्ता है और प्रकृति के साथ जुड़ कर उस की क्रियाओं में कर्ता एवम भोक्ता भाव से जुड़ जाता है। उस का मतिभ्रम ही माया है। यह पूर्ण सृष्टि का संचालन माया ही कर रही है। यही माया ही परब्रह्म का ही स्वरूप है, जिस में आप अपने आप को नही पहचान पाते और माया के जाल में सत्कर्म से ले कर सभी सांसारिक कार्य करते है। दर्पण के सामने खड़े हो कर भी आप अपने माया स्वरूप को ही देखते है। इसलिये प्रकृति की माया को हम आगे भी विस्तार से पढ़ेंगे।

अगले श्लोक में ईश्वर को न जानते हुए संसार मे माया में फसे हुए हम लोग कैसे ईश्वर को जान सकते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.13।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.14॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"daivī hy eṣā guṇa-mayī,
mama māyā duratyayā..।
mām eva ye prapadyante,
māyām etāḿ taranti te"..।।

भावार्थ:

यह तीनों दिव्य गुणों से युक्त मेरी अपरा शक्ति स्वरुप माया को पार कर पाना असंभव है, परन्तु जो मनुष्य मेरे शरणागत हो जाते हैं, वह मेरी इस माया को आसानी से पार कर जाते हैं। (१४)

Meaning:

For this, my divine maaya, comprised of the gunaas, is hard to cross. Only they who seek my refuge, cross over my maaya.

Explanation:

At this point in the seventh chapter, Shri Krishna has framed an interesting problem for us. If our mind with its senses is attracted to sense objects because of the play of the three gunaas, and if Ishvara is beyond the three gunaas, we need to somehow pierce through gunaas to contact Ishvara. If we cannot do it with our mind with its sense organs, how do we do it? We need some additional help. Shri Krishna says that the only solution is to surrender to Ishvara.

First, let us understand what exactly is preventing us from contacting Ishvara. Shri Krishna says that there is something called maaya is the barrier between us and Ishvara. What exactly is this maaya? It is nothing special, it is the 3 gunaas that saw in the previous shloka. Where is this maaya located? Not too far away. It is in our mind, and we can see its effect daily. Just when we think we are studying Gita and are immune to its effect, we suddenly get an angry

thought about a friend or a co-worker. That is maaya. Some people claim that Maya is mithyā (non-existent). They say that the material energy Maya is a perception created due to our ignorance, but if someone attains spiritual knowledge, Maya will cease to exist. The soul itself is the Ultimate Reality, and once we understand that all illusions shall dispel. However, this theory is negated by the Bhagavad Gita in this verse. Shree Krishna has already stated that Maya is an extension of His energy and not an illusion. The Śhwetāśhvatar Upaniṣhad also states:

"Maya is the energy (prakṛiti), while God is the Energetic."

The Ramayan states: "Some people think Maya is mithyā (non-existent), but factually it is an energy engaged in the service of God."

Now if maaya is the moat that blocks access to Ishvara, how do we cross it?

Shri Krishna says that in order to cross over maaya, we have to surrender to Ishvara completely. This type of complete surrender is indicated by the word "prapadyante" in the shloka. It literally means falling down at someone's feet. To visualize it, imagine that the devotee is holding onto Ishvara's feet, and also keeping one hand under Ishvara's feet. With this arrangement, the devotee will not run away from Ishvara, and Ishvara will also not run away from the devotee.

In the same way, we are in the clutches of Maya, the material energy. Although it is subservient to God, it keeps troubling us so that we keep moving towards God. By our own efforts, we cannot defeat Maya; only when we surrender completely to God, by His grace, we can cross the ocean of material existence.

Now, what does surrender mean in practice? As long as we assert ourselves physically, emotionally and intellectually, as long as we emphasize our individuality and assert our ego, we will strengthen maaya. So therefore, we need to de-emphasize our individuality and strengthen our devotion to Ishvara. When we surrender ourselves to Ishvara, we give up the notion that "I do everything" or "I own everything". It is all Ishvara's maaya. By distancing ourselves from maaya, we get closer to Ishvara.

Moreover, Shri Krishna says that maaya is divine, which means that it is supported by Ishvara, but it has reality on its own. In our lives, however, we still

rely on maaya for support. We rely on our savings, friends, family, job, education and so on as our refuge if times get tough. But all this is still the product of maaya. Once we shift our thinking that maaya cannot be a support, we will rely on the cause of maaya for support instead of maaya. And that cause is Ishvara. We can only enjoy bungee jumping when we have a strong rope and support. Similarly, we can enjoy the play of maaya if we have tethered ourselves to Ishvara.

How should we practice this daily? We should continue performing our duties as we saw in the previous chapters. What we should change, however, is our attitude. Whenever we start giving importance worldly things including people, objects, and situations, we should train ourselves to shift our attention to Ishvara who is behind everything. But we should not use this to justify all our wrong doings. As we saw in a previous chapter, prakriti or nature is a self-regulating system. If we do something that is against the laws of nature, it will come back to us as a punishment.

The next question in our mind would be, “If it is so easy to defeat So then, having understood this, why do people not seek Ishvara?

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में हम ने पढ़ा कि यह जीव पांच तत्व, मन, बुद्धि एवम अहंकार से युक्त है। इसलिये प्रकृति इस मे मोह एवम अहम को अपने त्रियामी गुणों से जोड़ देती है जिस को माया कहा गया है। जैसे ही कर्ता भाव आता है तो जीव को सांसारिक सुखों में ही आनंद आता है और इस आनंद के लिये ही वो कर्म भी करता हुआ कर्म बंधन में बंधता जाता है। यही प्रभु की माया है जिसे कोई नही समझ सकता।

सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति का आधार जीव और प्रकृति का संयोग है। जिसे गीता में वेदांत के अनुसार भी परा और अपरा प्रकृति का नाम दिया गया है। जीव को परब्रह्म का अंश कहा गया है किंतु प्रकृति के संयोग से उस में अष्टधा प्रकृति के विकार आ जाते है और उसे जीवात्मा कहा जाता है।

सत्त्व रज और तम तीनों गुणों की वृत्तियाँ उत्पन्न और लीन होती रहती हैं। उन के साथ तादात्म्य कर के मनुष्य अपने को सात्त्विक राजस और तामस मान लेता है अर्थात् उन का अपने में आरोप कर लेता है कि मैं सात्त्विक राजस और तामस हो गया हूँ। इस प्रकार तीनों गुणों से मोहित मनुष्य ऐसा मान ही नहीं सकता कि मैं परमात्मा का अंश हूँ। वह अपने अंशी परमात्मा की तरफ न देख कर उत्पन्न और नष्ट होने वाली वृत्तियों के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है यही उस का मोहित होना है। इस प्रकार मोहित होने के कारण वह मेरा परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है इस को समझ ही नहीं सकता।

यहाँ जगत् शब्द जीवात्मा का वाचक है। निरन्तर परिवर्तनशील शरीर के साथ तादात्म्य होने के कारण ही यह जीव जगत् नाम से कहा जाता है। तात्पर्य है कि शरीर के जन्म में "मैं " अर्थात अपना जन्मना

शरीर के मरने में अपना मरना शरीर के बीमार होने में अपना बीमार होना और शरीर के स्वस्थ होने में अपना स्वस्थ होना मान लेता है, इसी से यह जगत् नाम से कहा जाता है। जब तक यह शरीर के साथ अपना तादात्म्य मानेगा तब तक यह जगत् ही रहेगा अर्थात् जन्मता मरता ही रहेगा कहीं भी स्थायी नहीं रहेगा। गुणों की भगवान् के सिवाय अलग सत्ता मानने से ही प्राणी मोहित होते हैं। अगर वे गुणों को भगवत्स्वरूप मानें तो कभी मोहित हो ही नहीं सकते। तीनों गुणों का कार्य जो शरीर है उस शरीर को चाहे अपना मान लें चाहे अपने को शरीर मान लें दोनों ही मान्यताओं से मोह पैदा होता है। शरीर को अपना मानना ममता हुई और अपने को शरीर मानना अहंता हुई। शरीर के साथ अहंता ममता करना ही मोहित होना है। मोहित हो जाने से गुणों से सर्वथा अतीत जो भगवत्तत्त्व है उस को नहीं जान सकता। जो प्रतिक्षण नष्ट होने वाले तीनों गुणों से परे हैं अत्यन्त निर्लिप्त हैं और नित्यनिरन्तर एकरूप रहने वाले हैं ऐसे परमात्मा स्वाभाविक हैं। परमात्मा की यह स्वाभाविकता बनायी हुई नहीं है, कृत्रिम नहीं है और अभ्यास साध्य भी नहीं है प्रत्युत स्वतः स्वाभाविक है। परंतु शरीर तथा संसार में अहंता ममता अर्थात् मैं और मेरा भाव उत्पन्न हुआ है एवं नष्ट होनेवाला है यह केवल माना हुआ है इसलिये यह अस्वाभाविक है। इस अस्वाभाविक को स्वाभाविक मान लेना ही मोहित होना है जिस के कारण मनुष्य स्वाभाविकता को समझ नहीं सकता।

भगवान कहते है कि यह गुणात्मक एवम दिव्य स्वरूप मेरी माया अत्यंत दुस्तर है, जो इस माया को पार करते है वो ही मुझे प्राप्त करते है। यह देवी स्वरूपी माया इतनी दुस्तर है कि माया से प्रभावित लोग इस माया की ही पूजा अर्जना करने लग जाते है, जिस के कारण मुझे प्राप्त नही कर पाते। जैसे रोशनी के अभाव के कारण अंधकार छाया रहता है या फिर तत्वज्ञान के अभाव में अज्ञान ही ज्ञान बना रहता है वैसे ही परमात्मा है, इस के अभाव में जीव परमात्मा की माया में फस कर परमात्मा के स्वरूप को ही परमात्मा समझ कर पूजता रहता है एवम अपने मन, बुद्धि, अहम एवम कामना से भ्रमित हो कर मेरी अपरा प्रकृति में मेरे को खोजता रहता है।

माया कितनी दुस्तर हो सकती है इस का अंदाज हम इस बात से भी लगा सकते है कि भगवान ने जब अपने दिव्य स्वरूप के दर्शन नारद मुनि को दिए तो यह भी कहा " हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तू मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मन समझ" क्योंकि परमात्मा ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि अपरा प्रकृति के हर गुण में मैं ही हूँ किन्तु इन मे कोई भी मुझ में नही है।

परमात्मा को प्राप्त कैसे करे इस के लिये हमें पुनः अध्याय 2 से 6 तक जाना होगा जिस में हमे निष्काम कर्मयोगी बन कर ज्ञान प्राप्त करते हुए तत्वविद बनना है एवम सभी मे परमात्मा का स्वरूप देखते हुए उस की शरण को स्वीकार करना है और सर्वात्म भाव से अपनी आत्मा में परमात्मा एवम परमात्मा हो अपनी आत्मा में देखना है।

आज के सांसारिक प्रपंच में जहां दिनचर्या शरीर से शुरू होती है एवम परिवार, रहन सहन, समाज, देश एवम व्यापार आदि में ही घूमती रहती है, इस को कहना बेमानी लगता है। हम परमात्मा को कथाएं कह सुन कर, परमात्मा को देव स्थान या तीर्थो में पूजे कर एवम संत महात्मा के शरणागत हो परिपूर्ण समझ लेते है। किंतु यह भूल जाते है जिस छवि या स्वरूप को हम परमात्मा समझ रहे है वो माया ही है। इसलिये ही यह दुस्तर है। हम अपने अज्ञान को प्रकाशित करते है, क्योंकि हम सात्विक होना ही

ज्ञान समझते है। हमारे कर्म और चेष्टाएँ भले ही परब्रह्म के सम्बंध में हो किन्तु यह हमारा वाचा ज्ञान ही होता है, जो हम व्हाट्सएप्प, प्रवचन, यु टयूब, योग कक्षाएं आदि लगा कर करते है।

ज्ञान को प्राप्त नही किया जा सकता, यह तो प्राप्त ही है, जरूरत अज्ञान को मिटाने की होती है। हम अज्ञान अर्थात प्रकृति में ज्ञान स्थापित करते है। दान- पुण्य, धर्म, यज्ञ आदि स्वर्ग, परलोक आदि के सुख भोग के लिये करते है। माया में फसे हुए जीव के पास परब्रह्म को समझने और जानने के लिए साधन भी प्रकृति के ही मन और बुद्धि है। अर्थात जिस से तुम्हे बाहर होना है, उस में साधन भी उसी का हो तो कोई कैसे बाहर हो सकता है, जब स्वयं माया ने ही उसे जकड़ रखा हो।

बिरले योगी निष्काम भाव से कर्म करते हुए अहम एवम कामनाओं का त्याग करते हुए इस को प्राप्त करते है। जिज्ञासा से शुरू हुआ परमात्मा के प्रति विस्वास जन्म जन्मांतर तक कभी नष्ट नही होता, इसलिये परमात्मा के प्रति विस्वास के साथ बढ़ते रहे तो परमात्मा अवश्य मिलेगा। जरूरत मात्र निष्काम भाव से कर्म एवम ज्ञान की है। हमे अज्ञान से बचते रहना चाहिए। जीव जब अपरा प्रकृति एवम परा प्रकृति को जान जाता है तो उसे अपने मन एवम बुद्धि पर नियंत्रण भी आ जाता है जिस से वो शनेः शनेः परमात्मा की ओर अपने अहम एवम कामना का त्याग करते हुए बढ़ता है एवम निष्काम होने से कर्मो से बंधन से मुक्त भी होने लगता है। अतः शरणागत होना भी हो तो, व्यक्ति विशेष की बजाए, परमात्मा की शरण मे जाना चाहिए। ज्ञान को प्राप्त होना अत्यंत कठिन माना गया है किंतु जिस के सर पर सम्पन्न व्यक्ति का हाथ हो वह सांसारिक जीवन भी सुख से भोगता है, इसलिये जिस ने परमात्मा की शरण ली हो, उस को ज्ञान की प्राप्ति करवाने का दायित्व परमात्मा स्वयं अपने ऊपर ले लेता है। माया के दुष्चक्र से बचने एवम प्रकृति से बाहर परब्रह्म की प्राप्ति के भगवान श्री कृष्ण अपने शरणागत होने को कहते है किंतु माया ग्रसित जीव शरणागत भी माया से प्रेरित हो होता है और उस से अपने लिये सांसारिक सुख भोग कामना करता है। सत्य यही है कि किंतने लोग मंदिर में मोक्ष की कामना से जाते है ?

अतः शरणागत हो कर भक्ति यानि परमात्मा के प्रति श्रद्धा, विश्वास और प्रेम अटूट नही होगा, तब तक भक्ति शुरू नही होगी। फिर भक्ति में हमारी कामनाएं और आसक्ति सांसारिक सुख या सांसारिक दुख से निवारण की होगी तो यह निम्न स्तर की भक्ति से मुक्ति नही हो सकती। माध्यम भक्ति में यदि कामना और आसक्ति स्वर्ग, वैकुंठ या ब्रह्मलोक की भी तो भी हमे ज्ञात होना चाहिए कि मृत्यु लोक से ब्रह्मलोक के समस्त 14 लोक और संपूर्ण ब्रह्मांड तक अपरा प्रकृति ही का विस्तार है। फिर ब्रह्मा से ले कर स्वर्गलोक और अन्य लोक के देवी - देवता, यक्ष, पितर, गंधर्व आदि भी अपरा प्रकृति के अंतर्गत है और माया से मुक्त नही। पहले भी लिखा जा चुका है कि ईश्वर या देवता वह है जिस ने माया को नियंत्रित कर लिया और जो माया से नियंत्रित है, वह जीवात्मा है। इसलिए जिसे वेदों, उपनिषदों और गीता में परब्रह्म कहा गया है वह तो इन सबसे परे है, जिसे आगे हम विस्तार से पढ़ेंगे। अतः कामना और आसक्ति किसी भी स्वरूप में हो, वह प्रकृति की ही होगी। अतः भक्ति उत्तम प्रकार अर्थात मुमुक्षु की भांति परमात्मा की होनी चाहिए, जो मीरा, गोपियों, राधा की थी। भक्ति और भक्त के गुणों को विस्तार से भक्तियोग में पढ़ेंगे।

जो प्राणी अपरा प्रकृति में माया को समझ नही पाते उन के बारे में हम अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.14।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.15॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

"na māḿ duṣkṛtino mūḍhāḥ,
prapadyante narādhamāḥ.. l
māyayāpahṛta-jñānā,
āsuraḿ bhāvam āśritāḥ".. l l

भावार्थ:

मनुष्यों में मूढ़, अधर्मी और दुष्ट स्वभाव वाले मूर्ख लोग मेरी शरण ग्रहण नहीं करते है, ऐसे नास्तिक-स्वभाव धारण करने वालों का ज्ञान मेरी माया द्वारा हर लिया जाता है। (१५)

Meaning:

Wretched and deluded evil doers do not seek my refuge. Those whose wisdom has been abducted by maya take support of devilish tendencies.

Explanation:

Previously, Shri Krishna said that only those who take the refuge of Ishvara can cross over maaya. But many people fail to follow this instruction. Instead, their wisdom is usurped by maaya. Maaya veils Ishvara, causing people to think that they don’t have to associate with Ishvara. Shri Krishna says that these people are not just deluded or ignorant, they are wretched, they are evil doers and are the lowest among human beings.

In this verse, Shree Krishna says that there are four categories of people who do not surrender to Him:

1. The Ignorant. People who lack spiritual knowledge and do not know anything about the soul being eternal and that its ultimate goal is God-realization.

2. The lazy. These are the ones who have the knowledge and awareness of what they need to do still, due to their lazy- nature do not want to take any initiative to surrender. “Laziness is a big enemy, and it resides; in our body itself. Work is a good friend of humans, which never leads to downfall.”

3. Deluded Intellects. People who are so proud of their intellects that they have no faith in the scriptures and the teachings of the saints.

4. Demonic Nature. These are the people who are aware of God and His purpose for the world but still work against Him.

First of all, there are people who are somewhat deluded by maaya. They spend their lives running after material objects and possessions because they find joy in doing so. But they do so without causing any harm to anybody. Next, there are people who are even more deluded, who don't hesitate to break the law in their pursuit of material objects. Finally, there are the worst kind of people who will resort to taking another's life for their material fulfillment.

only mūḍhāḥ; utterly deluded; delusion is taking the impermanent to be permanent; Knowing that we will be deluded; Bhagavān has given gurus and śāstrās. He knows we will be caught; therefore, Bhagavān has kept Gurus and śāstrās; in the creation in the world; like a manual coming along with the gadget; what to do and what not to do; do's and don'ts with regard to any instruments. But they do not know anything; but they think they know everything; so why should I approach anyone? Why should I study the scriptures; therefore, they do not take the help available for them; help in the form of gurus and śāstrās.

And therefore, they become nara ādhamāḥ means the meanest people, the lowliest among the human being. We saw in Kathopanishad; any amount we get we will not get satisfied and therefore there is always an ambition, desire for more; and a time will come when we cannot fulfil our desires by legitimate earning; because our earnings increase in a particular proportion; it increases or decreases; therefore, what we will do? Some adjustment; some here and there; cutting corners; compromise; and initially it pricks because we have a conscious; and if we do a thing for some time, that conscience becomes blunt and blunt and blunt.

Having thus categorized people who are deluded by maaya, Shri Krishna calls their nature "aasuri" or devilish. Our goal should not show up in this category. So then, what kind of people seek out Ishvara? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मेरे भक्त माया को तर जाते हैं तो इस श्लोक में बता रहे हैं कि कौन से लोग हैं जो मेरी भक्ति नहीं करते हैं। इन दो प्रकार के लोगों का भेद स्पष्ट किये बिना जिज्ञासु साधक सम्यक् प्रकार से यह नहीं जान सकता कि मन की कौन सी प्रवृत्तियां मोह के लक्षण हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य के उच्च विकास का लक्षण उस की विवेकवती बुद्धि है। इस बुद्धि के द्वारा वह अच्छा- बुरा, उच्च- नीच, नैतिक - अनैतिक का विवेक कर पाता है। बुद्धि ही वह माध्यम है जिस के द्वारा मनुष्य अज्ञान जनित जीवभाव के स्वप्न से जाग कर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है। विषयों के द्वारा जो व्यक्ति क्षुब्ध नहीं होता उस में ही यह विवेक शक्ति प्रभावशाली ढंग से कार्य कर पाती है। मनुष्य में देहात्मभाव जितना अधिक दृढ़ होगा उतनी ही अधिक विषयाभिमुखी उस की प्रवृत्ति होगी। अत विषय भोग की कामना को पूर्ण करने हेतु वह निंद्य कर्म में भी प्रवृत्त होगा। इस दृष्टि से पाप कर्म का अर्थ है मनुष्यत्व की उच्च स्थिति को पाकर भी स्वस्वरूप के प्रतिकूल किये गये कर्म।

भगवान ने कुछ लोगो को विभाजित किया है जो प्रकृति के त्रियामी गुणों के अंतर्गत माया में पूर्णतयः लिप्त हो इस प्रकृति, शरीर एवम मोह एवम कामना को ही जीते है। ऐसे पुरुष ज्यादातर राजसी या तामसी प्रवृति के ही होते है। इन को निम्न प्रकार का कहा है

1. **मुढ़ यानि जो ज्ञान की बजाय अज्ञान को ज्ञान मान ले।** यह लोग प्रकृति के चिन्हों के ही उपासक होते है एवम सांसारिक ही सुखों के पीछे भागते है। कुछ मूढ़ प्रवृति के लोग स्वयं को ही भगवान घोषित कर के स्वयं एवम अन्य को धोखा देते है। प्रायः ऐसे लोग नश्वर वस्तु, व्यक्ति एवम सांसारिक विचारों को अधिक मान्यता देते है एवम स्वयं को ज्ञानी समझते है। जिस के कारण उन की बुद्धि किसी भी नवीन विचारधारा को स्वीकार नही करती। धर्मान्धिता इन्ही लोगो मे होती है। मूर्खता एवम मूढ़ता में अंतर समझ का ही है, मूढ व्यक्ति अहम में डूबा होने से, कुछ भी समझने को तैयार नही और मूर्ख व्यक्ति को ज्ञान का अभाव रहता है।

अपरा प्रकृति के नियम भौतिक, रसायन, आर्युवेदिक या जीव चिकित्सा के बद्ध है, इसलिए जब कोई इन रहस्यों को खोलना शुरूकर्ता है तो उसे नए नए अनुभव होते है और वह अनुसंधान करता हुआ, भौतिक और प्राकृतिक सुख के साधन जुटाता जाता है। सब से बड़ा आश्चर्य यही है कि इस का कोई अंत नहीं है और वह प्रकृति की परते खोलते खोलते अपने को ही भगवान समझ लेता है या अपने मनुष्य जन्म का उद्देश्य मुक्ति को भूल जाता है। प्रकृति के रहस्य अथाह है और एक खोह की भांति खुलते और बंद होते रहते है। इसलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में यह प्राणी मात्र अर्थ और काम में इतना उलझ जाता है कि वह यह भी भूल जाता है कि प्रकृति में कुछ भी स्थिर नहीं है, इसलिए जो कुछ भी वह तैयार करता है या वह स्वयं भी क्षय को प्राप्त, बिना मुक्ति के प्राप्त हो जाता है। इसलिए ऐसे जीव को मूढ़ कहा गया है और जो लोग ऐसे मूढ़ व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखते है कि वह उन का उद्धार करेगा, वह तो अतिमूढ़ ही होगा।

2. आसुरी प्रवृति वाले लोग प्रायः उन्हें कहेंगे जो हिंसा में विश्वास रखते है, जिन के जीने का उद्देश्य खाना, पीना, मौज करना एवम इस के लिये किसी को भी कष्ट देने से नही चूकते। यह अपने शारीरिक सुख को ही मान्यता देते है।

3. नीच प्रवृति में उन लोगो को ले सकते है जो उन कर्मो में लगे रहते है जिस से दूसरे को ज्यादा से ज्यादा नुकसान हो। इन्हें दुसरो को कष्ट दे कर आनन्द मिलता है।

4. इस के अतिरिक्त जो आलसी और कामचोर जीव है, वे भी मूढ़ ही है।

इन लोगो का जीवन विषयासक्ति, प्रमाद एवम आलस्य में रहता है, विपरीत भावना एवम अश्रद्धा से विवेक नष्ट हो चुका होता है एवम मिथ्या कुतर्क एवम नास्तिकवाद में उलझ कर प्रायः दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता, काम क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुरी गुणों को अपना चुके होते है।

भगवान का कहना है इस प्रकार के लोग कर्मबन्धन में अपने अपने कर्मो को भोगते प्रकृति में माया जाल में जीवन मरण के चक्र में फसे रहते है। इन की स्थिति हम उस उल्लू के समान मान सकते है जिस की आंखे सूर्य की रोशनी में बंद प्रायः रहती है।

मनुष्य होने का अर्थ शरीर से मानव रूप होना नही है। पशु और मनुष्य में अंतर बुद्धि का है और बुद्धि से मन को नियंत्रित कर के कर्म का अधिकार भी मनुष्य योनि को ही है। अन्य योनि में बुद्धि एवम विवेक के अभाव में मन द्वारा जीवन जीना पूर्व जन्मों के कर्मो को भोगना मात्र है, इसलिये अन्य जीव कर्मफल के अधिकारी भी नही होते। यदि मनुष्य हो कर भी कोई आसुरी प्रवृति में जीवन जीता है तो इस का अर्थ यही है वह पशु ही है। 84 लाख योनियों में सब से उत्तम योनि मनुष्य की है, जिस में बुद्धि और विवेक से वह परमात्मा के प्रति श्रद्धा और विश्वास रख कर मुक्त हो सकता है, किंतु वह मूढ़ है। इसलिये राक्षस या दुष्ट मनुष्य को कभी अपनी संगत में नही लेना चाहिये और इन को दंड भी लोग अपनी अपनी सामाजिक व्यवस्था में देते है। परमात्मा का कहना है जो समझने या शरण भी ग्रहण करने को तैयार न हो, मैं भी उस का साथ छोड़ देता हूँ और वह अपने कर्मों का फल भोगता हुआ, जन्म -मरण के दुखदायी चक्र में फसा रहता है।

धर्मान्ध, लोभी, कामी और कपटी प्रवृति के लोगो के लिए, किसी के धर्म ग्रंथ का कोई अर्थ नही होता। यह लोग अपनी मतान्धता में अन्य विचार धारा के लोगो की हत्या करने से भी नही चूकते। इन के प्रति सहानुभूति रखने वाले भी इन की ही मतान्धता के शिकार हो जाते है। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने विवेक को जाग्रत कर के अपने कर्तव्य धर्म के अनुसार निष्काम कर्म लोकसंग्रह हेतु करे और इस प्रकार के आसुरी प्रवृति के लोगो का साथ न दे। जो लोग सुधरना चाहते है, उन्हें सहयोग करे।

यहाँ भगवान् ने कहा है कि दुष्कृती मनुष्य मेरे शरण नहीं हो सकते और नवें अध्यायके तीसवें श्लोक में कहा है कि सुदुराचारी मनुष्य भी अगर अनन्यभाव से मेरा भजन करता है तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है तथा निरन्तर रहनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है यह कैसे इस का समाधान यह है कि दुराचारी की प्रवृत्ति परमात्मा की तरफ स्वाभाविक नहीं होती परन्तु अगर वह भगवान् के शरण हो जाय तो उस के लिये भगवान् की तरफ से मना नहीं है। भगवान् की तरफ से किसी भी जीव के लिये किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं है क्योंकि भगवान् प्राणिमात्र के लिये सम हैं। उन का किसी भी प्राणी में रागद्वेष नहीं होता। दुराचारी से दुराचारी मनुष्य भी भगवान् के द्वेष का विषय नहीं है। जैसे माँ का हृदय अपने सम्बन्ध से बालकों पर समान ही रहता है। उन के सदाचार दुराचार से उन के प्रति माँ का व्यवहार तो विषम होता है पर हृदय विषम नहीं होता। माँ तो एक जन्म को और एक शरीर को देनेवाली

होती है परन्तु प्रभु तो सदा रहने वाली माँ हैं। प्रभु का हृदय तो प्राणिमात्र पर सदैव द्रवित रहता ही है। प्राणी निमित्त मात्र भी शरण हो जाय तो प्रभु विशेष द्रवित हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं। **जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।। तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।।**

कई बार यह प्रश्न भी उठता है कि परब्रह्म नित्य, साक्षी, अकर्ता और द्दष्टा है, तो जो शरण देता है, साधुओं का उद्धार करता है, दुष्ट लोगो का विनाश करता है और मूढ़, अधर्मी, आलसी और आसुरी वृति के लोगो की मति को हर लेता है, वह परमात्मा कौन है। इस को आगे के अध्यायों में हम विस्तृत रूप में पढ़ेंगे, कि यह विश्वरूप परमात्मा कौन है, अभी यही मानते हुए आगे पढ़ते है कि यह विश्वरूप परमात्मा जो आज मानव अवतार में कृष्ण रूप में खड़े है, वे परब्रह्म ही है। यह मानवावतार में और भी अनेक स्वरूप में परमात्मा इस धरती पर समय समय पर प्रकट हुए।अतः परब्रह्म जब परमात्मा मानव स्वरूप में होता है तो अपने शरणागत को अभय और मुक्ति प्रदान करने का कार्य भी करता है। किंतु कुछ मूढ़ इस बात पर बहस करते है कि उन का परमात्मा अन्य के परमात्मा से श्रेष्ठ है और मूढ़ता की हद्द यह है कि धर्म के नाम पर संसार में सब से ज्यादा युद्ध हुए है और जाने गई है जब की धर्म की परिभाषा में तो प्रेम, भाईचारा, सद्भाव, परोपकार और अहिंसा को सर्वोच्च स्थान है और ऐसे मूढ़ में भी जो स्वभाव और भाव से नास्तिक या अधर्मी और दुष्ट और परमात्मा के प्रति मुक्ति के लिए शरणागत न होनेवाले लोग होते है, उन व्यक्तियों की बुद्धि का भी हरण हो जाने से, इन्हे ज्ञान भी नही हो पाता।

अगले श्लोक में हम पढेंगे की परमात्मा को भजने वाले लोग किस प्रकार के होते है।

।। हरि ॐ तत सत।।7.15।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.16॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"catur-vidhā bhajante māḿ,
janāḥ sukṛtino 'rjuna..।
ārto jijñāsur arthārthī,
jñānī ca bharatarṣabha"..।।

भावार्थ:

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के उत्तम कर्म करने वाले (१) आर्त - दुख से निवृत्ति चाहने वाले, (२) अर्थार्थी - धन-सम्पदा चाहने वाले (३) जिज्ञासु - केवल मुझे जानने की इच्छा वाले और (४) ज्ञानी - मुझे ज्ञान सहित जानने वाले, भक्त मेरा स्मरण करते हैं। (१६)

Meaning:

Four types of people who perform good actions worship me, O Arjuna - the distressed, the inquisitive, the profit-minded and the wise, O scion of the Bharataas.

Explanation:

Shri Krishna is a methodical teacher. He loves to categorize and classify knowledge. In the previous shloka, he defined people who are blinded by maaya as "dushkritinaha" - those who commit wrong or evil actions. Such people cannot contact Ishvara. In this shloka, he adds the second category of people - those who perform good actions, "sukritinaha". He then further classifies these devotees of Ishvara into four types.

1. The first type of devotee is the "aarta" or the distressed. When such devotees are in trouble, when they have a health condition, when they have a monetary problem, when they are anxious about the result of the final exam, when there is nowhere else to go, they approach Ishvara for help. The distressed. Those who find that their pot of worldly miseries is overflowing, and they are unable to cope with them conclude that it is futile running after the world. Thus, decide to take shelter in God. Similarly, those who find that the worldly supports fail to protect them; turn to God for protection. Usually, such devotees would not have remembered Ishvara if they were well off, if they had no source of affliction. Regardless, Ishvara accepts them as his devotees.

2. The second type of devotee is the "jignyaasu" or the inquisitive. Such people are seeking knowledge in all of its various aspects: economic knowledge, scientific knowledge, artistic knowledge and even spiritual knowledge. They worship Saraswati as the goddess of knowledge. There are some people who have heard about the opulence of God and His spiritual realm. Thus, they are curious to know all about God and try to seek Him through knowledge.

3. The third type of devotee is the "arthaarthee". Many commentators interpret this word as one who is desirous of "artha", which is profit or material gains. There are seekers of worldly possessions. Some people are clear about what they want and take the shelter of God because they are convinced; that only God can provide what they are seeking. However, if we assume that the four types of devotees are arranged in order of importance, then "artha" could mean "purushaartha" which comprises dharma, artha, kaama (desire) and

moksha (liberation). In other words, such a devotee has realized that he needs to use all his time and resources on this world to attain liberation.

4. Finally, the fourth type of devotee is the “jnyaani” or the wise one. He is the one who realized that there is nothing other than God. He sees God in everything. Therefore, he does not want God for some other purpose. He wants God and nothing else. There are no other desires or ulterior motives in such a devotee. Those situated in knowledge. Lastly, those souls who have understood the truth that they are tiny parts of God. Such people engage in devotion with the intent that it is their eternal duty to love and serve Him. Shree Krishna calls them the fourth kind of devotees.

Are all four devotees alike? Or is there one in particular that Shri Krishna prefers?

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान का कहना है जो मुझे जिस रूप में भजता है मै उसे उसी रूप में स्वीकार करता हूँ। पूर्व के श्लोक में ईश्वर को न मानने वाले मूढ, दुष्कर्मी, नराधम एवम आसुरी प्रवृति के जीव के प्रकार् में पशुवत जीवन जीने वाले दुष्कृता जीव का ज्ञान हरण करने की बात का वर्णन हम ने पढ़ा। अब ईश्वर उन लोगो का वर्णन करते है जो परमात्मा को मानते है। इन लोगो के संस्कार एवम आचरण समाज मे रहने लायक होने से ईश्वर सर्वप्रथम उन को अच्छे कार्य करने वाले ही लोगो ही सम्मलित करते है, इसलिये इन्हें सुकृतिनः शब्द से संबोधित करते है। अच्छे कार्य अर्थात उन का कार्य पूर्व श्लोक में वर्णित लोगो के समान नहीं है तो वो अच्छे कार्य करने वाले जीव है, यह लोग शास्त्रीय विधि विधान, नैतिकता एवम सामाजिक नियम को मानते हुए, एक दूसरे के प्रति सहयोग, प्रेम एवम सहानुभूति की भावना रखते है। इन की न्यूनाधिक मात्रा में ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवम विश्वास रहता है। इन जीव को क्रमशः भगवान चार प्रकार के बताते है।

(क) **आर्त** - आर्त का सामान्य अर्थ है दुख से पीड़ित व्यक्ति। दुखार्त भक्त अपने कष्ट के निवारण के लिए भक्ति करता है। यह सामान्य दुख के विषय में हुआ किन्तु ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिन्हें जीवन में सब प्रकार की सुख सुविधाएं उपलब्ध होने पर भी वे एक प्रकार की आन्तरिक अशान्ति का अनुभव करते हैं। इस अशान्ति की निवृत्ति भगवत्स्वरूप की प्राप्ति से ही होती है। ऐसे आर्त भक्त भी मेरा भजन करते हैं। इस मे रोग, इष्ट वस्तु का अभाव, चोर आदि के भय से दुखी।

ऐसे भक्तों को समझने के लिए हम गजराज- जिसे मगरमच्छ ने पानी मे पकड़ लिया था, तो उस ने विष्णु भगवान को पुकारा था एवम 'गजेंद्र मोक्ष' की प्रार्थना की थी। इस मे द्रोपदी का भी नाम है जिस ने चीर हरण के समय भगवान को पुकारा था। आर्त को हम अत्यंत दुखी हो कर भगवान को पुकारना बोल सकते है।

महाभारत में कुंती ने परमात्मा से अपने लिये दुख मांगे थे, क्योंकि उस का मानना था कि सुख में अहंकार जन्म लेता है और जीव परमात्मा का स्मरण करना भूल जाता है, जबकि दुख में आर्त हो कर वह सदैव परमात्मा को याद करता है।

(ख) **अर्थार्थी** किसी न किसी कार्यक्षेत्र में इष्ट फल को अर्थात कामना की प्राप्ति करने के लिए जो लोग कर्म करते हुए मेरे अनुग्रह की कामना करते हैं उन्हें अर्थार्थी कहते हैं। कामना की पूर्ति इनका लक्ष्य होता है। कामना धन, पद, सहयोग, बल, कार्य के संपन्न होने आदि किसी भी कारण हो सकती है।

इस मे हम सुग्रीव, विभीषण, एवम धुर्व का नाम उदाहरण के तौर पर समझ सकते है। जब कुछ पाने के लिए ईश्वर की आराधना की जाए तो वो अर्थार्थी मानी जायेगी।

(ग) **जिज्ञासु** जो साधक शास्त्राध्ययन के द्वारा मुझे जानना चाहते हैं वे जिज्ञासु भक्त हैं। धन, स्त्री, पुत्र, गृह, रोग, शोक, मृत्यु, भय आदि की परवाह न करते हुए एक मात्र परमात्मा तत्व को जानने की इच्छा से जो एकनिष्ठ को भगवान की भक्ति करे वो जिज्ञासु।

इस मे हम उदाहरण के तौर पर परीक्षित का नाम ले सकते जिसे शुकदेव जी ने भागवद सुनाई थी। उद्धव जी भी एक जिज्ञासु भक्त ही थे।

(घ) **ज्ञानी** उपर्युक्त तीनों से भिन्न ज्ञानी भक्त विरला ही होता है जो न किसी फल की इच्छा रखता है और न मुझसे कोई अपेक्षा। वह स्वयं को ही मुझे अर्पित कर देता है। वह मेरे स्वरूप को पहचान कर मेरे साथ एकत्व को प्राप्त हो जाता है। ऐसे भक्त परम तत्व के जानकार, एकत्त्व या समतत्व भाव रखने वाले होते है। ज्ञान युक्त निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी भक्त ही होता है। ज्ञान के मार्ग पर बढ़ने वाले भक्त ही भगवान ने श्रेष्ठ माना है।

इस मे हम शुकदेव, सनकादि, नारद ऋषि, भीष्म, एवम भक्त प्रह्लाद एवम कर्ण आदि को रख सकते है ।

क्षर-अक्षर की दृष्टि से भगवान ने अपने स्वरूप का यह ज्ञान दिया कि प्रकृति एवम पुरुष (जीव) दोनों ही मेरे ही स्वरूप है। समस्त पदार्थ एवं ऊर्जा का स्रोत आत्मा ही होने के कारण जड़ पदार्थों में यदि क्रिया होते दिखाई दे तो उसका प्रेरक स्रोत भी आत्मा ही होना चाहिए। वाष्प इंजन का प्रत्येक भाग लोहे का बना होता है और फिर भी यदि उसमें रेल के डिब्बों को खींचने की सामर्थ्य होती है तो निश्चय ही उस सामर्थ्य का स्रोत लोहे से भिन्न होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार समस्त मनुष्य शरीर मन और बुद्धि के माध्यम से जो सामर्थ्य प्रकट करते हैं वह आत्मचैतन्य के कारण ही संभव होता है। योगी हो या भोगी दोनों को कार्य करने के लिए आत्म चैतन्य का ही आह्वान करना पड़ता है। चाहे वे पीड़ा और कष्ट के समय सान्त्वना की कामना करें या विषय उपभोगों की इच्छा करें इन सबके लिए आत्मा की चेतनता आवश्यक होती है। विखण्डित मन में जब चैतन्य व्यक्त होता है तो मन के अवगुणों के लिए आत्मा को दोष नहीं दिया जा सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि एक मात्र आत्मा ही चैतन्य स्वरूप है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि पापी हो या पुण्यात्मा मूढ़ हो या बुद्धिमान आलसी हो या क्रियाशील भीरु हो या साहसी सब मुझे ही भजते हैं और मैं उन सबके हृदय में व्यक्त होता हूँ। शरीर मन या बुद्धि से कार्य करने के लिए सभी मनुष्यों को जाने या अनजाने मेरा आह्वान करना पड़ता है। इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का अर्थ समर्पण है, जिस में श्रद्धा और विश्वास तत्व मिला है। यह भक्ति ही जीव को परमात्मा की

तरफ खिंचती है, फिर चाहे भक्ति कामना, जिज्ञासा, कष्ट निवारण या ज्ञान के लिये की जाए या सिर्फ परमात्मा के लिये, यह आगे हम पढ़ेंगे।

सुकृतिनः जीव के चार प्रकार् की भक्ति भक्ति के चार चरण भी कहे जा सकते है, जहां परमात्मा का स्मरण दुख के निवारण या अर्थ-काम की पूर्ति से शुरू होता है और जैसे जैसे भक्त का परमात्मा पर श्रद्धा और विश्वास बढ़ता है, वह जिज्ञासु की भांति भक्ति ज्यादा करने लगता है। भक्ति के आनंद की अनुभूति उसे ज्ञान भक्ति की ओर आकर्षित करती है और भक्ति से वह ज्ञान को प्राप्त करके उस मार्ग पर बढ़ने लगता है। स्कूल में परीक्षा में पास होने या कोई खोई हुई चीज की प्राप्ति या कोई वस्तु की प्राप्ति से शुरू भक्ति अंत मे ज्ञान की भक्ति में स्वतः ही प्रवर्तित हो जाती है। पूर्व के श्लोक में जिन लोगो के विवेक का हरण करने की बात की थी उन्हे **दुष्कृतिन:** कहा गया था। हम ने पहले ही पढ़ा है कि प्रकृति में इंद्रियों, मन और बुद्धि पर प्रभाव जीव के भाव अर्थात विचारो के प्रति सोच का प्रभाव है। सत्व गुण से उत्पन्न भाव कल्याणकारी और तम गुण से उत्पन्न भाव अन्य को और स्वयं को कष्टकारी होते है। अतः जब तक जीव तमो गुण प्रधान नही है तो वह किसी न किसी प्रकार से परमात्मा के प्रति आस्था रखता ही है। इसलिए यह चार प्रकार के भक्त जिनका वर्णन हम सुकृतिनः कर के पढ़ रहे है, वे सत्व और रज गुण प्रधान भाव के होते है।

मोक्ष जीव का लक्ष्य होता है, मोक्ष का अर्थ है जीव का ब्रह्मलीन होना। अतः धीरे धीरे ही सही, परमात्मा में विश्वास आर्त हो कर ही शुरू हो, वह अर्थार्थी में परिवर्तित होगा ही। अर्थार्थी भी आगे चल कर जिज्ञासु बनता है और जिज्ञासा में ज्ञान मिलते मिलते वह ज्ञानी भक्त बन ही जाता है। इस में समय की बात करना उचित ही नही क्योंकि यह एक जन्म से ले कर अनेक जन्मों की यात्रा है, जरूरत **सुकृतिनः** होने की है, दुष्कृतिन: लोगो को परमात्मा भी साथ नहीं देता और उन को उन के कर्म के फल भोगने के छोड़ देता है।

यहां चारो प्रकार के भक्तों उन की भक्ति की श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध किया गया है जिस में ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है। चारों भक्तों में से ज्ञानी भक्त की विशेषता का विशद वर्णन आगे के श्लोक में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.16।।

।। मंथन रामसुखदास जी द्वारा ।। विशेष - 7.16 ।।

सुकृती मनुष्य दो प्रकार के होते हैं एक तो यज्ञ दान तप आदि और वर्ण आश्रम के शास्त्रीय कर्म भगवान् के लिये करते हैं अथवा उन को भगवान् के अर्पण करते हैं और दूसरे भगवन् नाम का जप तथा कीर्तन करना भगवान् की लीला सुनना तथा कहना आदि केवल भगवत्सम्बन्धी कर्म करते हैं। जिन की भगवान् में रुचि हो गयी है वे ही भाग्यशाली हैं वे ही श्रेष्ठ हैं और वे ही मनुष्य कहलाने योग्य हैं। वह रुचि चाहे किसी पूर्व पुण्य से हो गयी हो चाहे आफत के समय दूसरों का सहारा छूट जाने से हो गयी हो चाहे किसी विश्वसनीय मनुष्य के द्वारा समय पर धोखा देने से हो गयी हो चाहे सत्सङ्ग स्वाध्याय अथवा विचार आदि से हो गयी हो किसी भी कारण से भगवान् में रुचि होने से वे सभी सुकृती मनुष्य हैं। जब भगवान् की तरफ रुचि हो जाय वही पवित्र दिन है वही निर्मल समय है और वही सम्पत्ति है। जब भगवान् की तरफ रुचि नहीं होती वही काला दिन है वही विपत्ति है

इसी प्रकार कामना दो तरह की होती है पारमार्थिक और लौकिक। (1) **पारमार्थिक कामना** पारमार्थिक कामना दो तरह की होती है मुक्ति (कल्याण) की और भक्ति (भगवत्प्रेम) की।

जो मुक्ति की कामना है उस में तत्त्व को जानने की इच्छा होती है जिसे जिज्ञासा कहते हैं। यह जिज्ञासा जिस में होती है वह जिज्ञासु होता है। गहरा विचार किया जाय तो जिज्ञासा कामना नहीं है क्योंकि वह अपने स्वरूप को अर्थात् तत्त्व को जानना चाहता है जो वास्तव में उस की आवश्यकता है। आवश्यकता उस को कहते हैं जो जरूर पूरी होती है और पूरी होने पर फिर दूसरी आवश्यकता पैदा नहीं होती। यह आवश्यकता सत्व विषय की होती है।

दूसरी कामना प्रभु प्रेम प्राप्ति की होती है। उस को प्राप्ति तो कहते हैं पर वास्तव में वह प्राप्ति अपने लिये नहीं होती प्रत्युत प्रभु के लिये ही होती है। उस में अपना किञ्चिन्मात्र प्रयोजन नहीं रहता प्रभु के समर्पित होने का ही प्रयोजन रहता है। प्रेमी तो अपने आप को प्रभु के समर्पित कर देता है जो कि उसी का अंश है।उपर्युक्त दोनों ही पारमार्थिक कामनाएँ वास्तव में कामना नहीं हैं।

(2) **लौकिक कामना** लौकिक कामना भी दो तरह की होती है सुख प्राप्त करने की और दुःख दूर करने की। शरीर को आराम मिले जीते जी मेरा आदर सत्कार होता रहे और मरने के बाद मेरा नाम अमर हो जाय मेरा स्मारक बन जाय कोई ग्रन्थ बना दे जिस को लोग देखते रहें पढ़ते रहें और यह जान जायँ कि ऐसा कोई विलक्षण पुरुष हुआ है मरने के बाद स्वर्ग आदि में भोग भोगते रहें आदि आदि लौकिक सुखप्राप्ति की कामनाएँ होती हैं। ऐसी कामनाओं से तो वासना ही बढ़ती है जिस से बन्धन और पतन ही होता है उद्धार नहीं होता। यह कामना आसुरी सम्पत्ति है इसलिये यह त्याज्य है। दूसरी कामना दुःख दूर करने की है। दुःख तीन प्रकार के हैं आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक। अतिवृष्टि अनावृष्टि सरदी गरमी वायु आदि से जो दुःख होता है उस को आधिदैविक कहते हैं। यह दुःख देवताओं के अधिकार से होता है। सिंह साँप चोर आदि प्राणियों से जो दुःख होता है उस को आधिभौतिक कहते हैं।

शरीर और अन्तःकरण को लेकर जो दुःख होता है वह आध्यात्मिक होता है। इन दुःखों को दूर करने की और सुख प्राप्त करने की जो कामना होती है वह सर्वथा निरर्थक है क्योंकि उस कामना की पूर्ति नहीं होती। पूर्ति हो भी जाती है तो दूसरी नयी कामना पैदा हो जाती है और अन्त में अपूर्ति ही बाकी रहती है। इसलिये इन दोनों कामनाओं की पूर्ति किसी भी मनुष्य की कभी भी नहीं हुई न होती है और न भविष्य में ही पूरी होनेवाली है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 7.16 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.17॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

"teṣāḿ jñānī nitya-yukta,
eka-bhaktir viśiṣyate..।
priyo hi jñānino 'tyartham,
ahaḿ sa ca mama priyaḥ"..।।

भावार्थ:

इन में से वह ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है जो सदैव अनन्य भाव से मेरी शुद्ध-भक्ति में स्थित रहता है क्योंकि ऐसे ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त प्रिय होता हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। (१७)

Meaning:

Among those, the wise one who is constantly connected with single-pointed devotion is special, for I am dear to him, and he is dear to me.

Explanation:

Previously, Shri Krishna enumerated the four types of devotees that seek Ishvara's refuge. Now, Shri Krishna says that the wise devotee is special among the four types of devotees. The wise devotee is always striving to be connected with him. Shri Krishna gives the reason for the special nature of this devotee in this and the next shloka.

Wise devotees develop selfless, exclusive, and incessant devotion toward GOD. Now that they have the knowledge that the happiness of the world is temporary and God is the source of eternal bliss, they neither crave for favorable circumstances nor lament over reversals in the world. They become situated in selfless devotion with complete self- surrender and for their Divine Beloved, they are willing to offer themselves as an offering in the fire of divine love. Shree Krishna declares that such devotees are dearest Him.

A wise devotee has also gone through a lot of ups and downs in life like anyone else. But he has taken the time to accurately analyze his situation. He has come to the conclusion that no matter what he gains - a new job, new house, investments and so on - he is still left with a sense of incompleteness. Unlike the other three types of devotees that seek something finite, he wants to go beyond finite things. In other words, he is seeking infinitude.

Having come to this conclusion, his search for infinitude has culminated in Ishvara. He intuitively knows that it is Ishvara that is going to give him infinitude. He then takes to the path of spirituality from the very early stages: karmayoga for purification of the mind, followed by meditation for single pointedness of mind, hoping eventually to culminate in attainment of the infinite Ishvara.

People coming to jñānam means meditation; another misconception; coming to jñānam does not mean meditation; in meditation you can reproduce only what you already know; can go on repeating that you already know, how can you know something new through meditation; and therefore, what is jñāna yōga, Krishna has already said in the fourth chapter.

Jñāna yōga means systematic study of scriptures under the guidance of a competent ācārya. what types of scriptures? Those scriptures which deal with the lower as well as higher nature of God. Not only the saguṇa Īśvara svarūpam; we should study that scripture which deals with the nirguṇa svarūpam also. So many people talk about Bhāgavatham, in fact Bhāgavatham is a wonderful scripture which deals with both Saguṇa Krishna and Nirguṇa Krishna but they filter the Nirguṇa portion. They will talk about, the story part is beautifully described and when there is the higher nature; quietly they skip. We have to study both the saguṇa and nirguṇa aparā and parā and therefore coming to jñānam means systematic study of scriptures.

There is another reason for the special nature of the wise devotee, which we shall see next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक में ईश्वर ने उन को भजने वाले चार प्रकार के जीव बताए थे। यदि हम ध्यान से देखे तो ज्ञानी के अतिरिक्त तीनो प्रकार के जीव ईश्वर को पूजता तो अवश्य है किंतु उस के लिए उस की कोई न कोई कामना अवश्य रहती है। हम ने तत्वविद योगी एवम एकत्त्व या समतत्व भाव युक्त योगी के बारे में पिछले अध्यायों में पढ़ा है जो स्वयं की आत्मा को ईश्वर के इतना समीप ले जाता है कि उसे स्वयं की आत्मा में परमात्मा एवम परमात्मा में स्वयं की आत्मा दिखती है। अतः इसी एकत्त्व भाव के कारण ही भगवान कहते कि उन चार प्रकार के भक्तों में जो ज्ञानी है अर्थात् यथार्थ तत्त्व को जाननेवाला है वह तत्त्ववेत्ता होने के कारण सदा मुझ में स्थित है और उस की दृष्टि में अन्य किसी भजनेयोग्य वस्तु का अस्तित्व न रहने के कारण वह केवल एक मुझ परमात्मा में ही अनन्य भक्तिवाला होता है। इसलिये वह अनन्य प्रेमी (ज्ञानी भक्त) श्रेष्ठ माना जाता है। (अन्य तीनोंकी अपेक्षा) अधिक उच्च कोटि का समझा जाता है। क्योंकि मैं ज्ञानी का आत्मा हूँ इसलिये उस को अत्यन्त प्रिय हूँ। संसार में यह प्रसिद्ध ही है कि आत्मा ही प्रिय होता है। इसलिये ज्ञानी का आत्मा होनेके कारण भगवान् वासुदेव उसे अत्यन्त प्रिय होता है। यह अभिप्राय है। तथा वह ज्ञानी भी मुझ वासुदेवका आत्मा ही है अतः वह मेरा अत्यन्त प्रिय है।

ज्ञानी को प्रायः विवेचना करते हुए सन्यासी, त्यागी, ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी, संत या साधु समझ लिया जाता है।

ऋषि शब्द उन अन्वेषक अर्थात वैज्ञानिकों से लिया जाता है जो अध्यात्म से ले कर चिकित्सा, भौतिकी, रसायन, संगीत और मंत्रों पर रिसर्च करते रहते थे। इस में महऋषि उसे माना गया जिस में अपने अंदर की कामना और आसक्ति, क्रोध और मोह को नियंत्रित कर लिया हो और ब्रह्मऋषि वे लोग कहलाते है जिसे ज्ञान अर्थात अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो और अज्ञान से परे प्रकृति को अपना कर्म करते देखता है। सन्यासी जिस ने सांसारिक भोग विलास को त्याग दिया। त्यागी भी सन्यासी जैसे परंतु उन से कम ही होते है, जो संसार में रहते हुए, कुछ वस्तुओ को त्याग देते है। मुनि से हम उन तप करने वाले लोगो को लेते है जो मौन हो कर साधना अर्थात एकांत साधना करते है। तपस्वी वे लोग जो योग में तप अर्थात किसी लक्ष्य के लिए मंत्रों से, यज्ञ से या हठ योग करते है। संत सरल स्वभाव के जीव होते है जिन के मन में द्वेष, कपट, क्षोभ लोभ या मोह नहीं होता और साधु वही है जो किसी विशिष्ट विषय पर साधना करते है। योगी वह है जिस ने सत्व गुण के बाद अपने को परमात्मा से श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से जोड़ दिया है, जिस से वह अपने कर्म को निमित्त मानकर समर्पित भाव से करता है।

किंतु ज्ञानी वही है जिस ने अपने अज्ञान का अध्यास कर लिया हो अर्थात जिस ने अपने ब्रह्म स्वरूप को पहचान कर अपने अज्ञान को नष्ट कर दिया हो। ज्ञानी की स्थिति अद्वैत भाव की होती है, इसलिए उस में और परमात्मा में कोई अंतर नही रह जाता। इसलिए जिस ने सन्यास, कर्म, भक्ति या बुद्धि योग से ज्ञान को प्राप्त कर लिया हो, जो ब्रह्मसंध हो गया हो, वह ज्ञानी ही परमात्मा को अत्यंत प्रिय होता है।

गीता की मीमांसा में अक्सर सन्यास अर्थात सांख्य की प्रधानता उन मीमांसकों द्वारा ज्यादा रखी गई है जो साधु, संत आदि है। कर्मयोगी या गृहस्थ लोग उन्ही को अनुसरण भी करते है। गीता युद्ध भूमि में परमात्मा द्वारा क्षत्रिय योद्धा को अपने कर्तव्य कर्म का पालन कैसे किया जाए, का ज्ञान है। तो वह कर्मयोग अर्थात निष्काम, निर्लिप्त और योगी भाव से कर्म करने को प्रेरित करता है। क्योंकि गीता के पूर्व ही अर्जुन सन्यास को तैयार था। वह सन्यास और कर्म में जो उस के लिए श्रेष्ठ मार्ग है, जानने का जिज्ञासु भी था। उसे भी सभी मार्ग श्रेष्ठ बताते हुए भी, कर्मयोग ही उत्तम बताया गया। अतः ज्ञानी की अवस्था भक्ति, कर्म और सन्यास में आत्मशुद्धि को प्राप्त करने के बाद की है, जो तीनो या सभी मार्ग को समान रूप से लागू होती है।

ज्ञानी व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए नहीं वरन् अपने मन की उन प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए ईश्वर का आह्वान करता है जिस के कारण उस के मन की शक्ति का जगत् के मिथ्या आकर्षणों में व्यर्थ अपव्यय होता है। अत स्वाभाविक है कि आत्मस्वरूप में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे ज्ञानी पुरुष को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जिसके मन में आत्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई कामना ही नहीं रहती। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ। प्रेम का मापदण्ड है प्रियतम के साथ हुआ तादात्म्य। वास्तव में आत्मसमर्पण की धुन पर ही प्रेम का गीत गाया जाता है। निस्वार्थता प्रेम का आधार है। प्रेम की मांग है समस्त कालों एवं परिस्थितियों में बिना किसी प्रतिदान की आशा के सर्वस्व दान। प्रेम के इस स्वरूप को समझने पर ही ज्ञात होगा कि ज्ञानी भक्त का प्रेम ही वास्तविक शुद्ध और पूर्ण प्रेम होता है।एकपक्षीय प्रेम की परिसमाप्ति कभी पूर्णत्व में नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है। इस कथन में एक मनोवैज्ञानिक सत्य छिपा हुआ है। प्रेम का यह सनातन नियम है कि वह निष्काम होने पर न केवल पूर्णता को प्राप्त होता है वरन् उसमें एक दुष्ट को भी आदर्श बनाने की विचित्र सार्मथ्य होती है।यह एक सुविचारित एवं सुविदित तथ्य है कि यदि किसी व्यक्ति का मन किसी एक विशेष भावना जैसे दुख द्वेष मत्सर करुणा से भर जाता है तो उसके समीपस्थ लोगों के

मन पर भी उस तीव्र भावना का प्रभाव पड़ता है। अत यदि हम किसी को निस्वार्थ शुद्ध प्रेम दे सकें तो हमारे दुष्ट शत्रु का भी हृदय परिवर्तित हो सकता है। यह नियम है।यह मनोवैज्ञानिक सत्य भगवान् के इस कथन में स्पष्ट होता है कि ज्ञानी को मैं और मुझे ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है।

भक्ति योग में प्रिय होना, ज्ञान योग में समभाव होना एक समान है। जीव का लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर के परब्रह्म में लीन होना है। ज्ञानी भक्ति में वैराग्य होने से, उस का प्रकृति से कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव कम होता जाता है। जैसे ही वह प्रकृति से अपने को पृथक जान लेता है, वह परब्रह्म के करीब हो जाता है। सन्त कबीर, रैदास, मीरा, तुलसीदास आदि संत ज्ञानी और भक्ति प्रेरित ज्ञानी भक्त थे, जिन्हें परमात्मा द्वारा मोक्ष प्राप्त हुआ।

भगवान् ने ज्ञानी भक्त को अपना अत्यन्त प्यारा बताया किन्तु भगवान् ने दूसरे भक्तों के क्या कहते है, इसे आगे के श्लोक में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.17।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.18॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

"udārāḥ sarva evaite,
jñānī tv ātmaiva me matam..।
āsthitaḥ sa hi yuktātmā,
mām evānuttamāḿ gatim"..।।

भावार्थ:

यधपि ये चारों प्रकार के भक्त उदार हृदय वाले हैं, परन्तु मेरे मत के अनुसार ज्ञानी-भक्त तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप होता है, क्योंकि वह स्थिर मन-बुद्धि वाला ज्ञानी-भक्त मुझे अपना सर्वोच्च लक्ष्य जानकर मुझ में ही स्थित रहता है। (१८)

Meaning:

All those are certainly sincere, but only the wise one is my own self, in my opinion. For, he engages to become established in me only as the ultimate goal.

Explanation:

So far, Shri Krishna enumerated four types of devotees and singled out one of them, the wise one, as the most special type of devotee. This is because the wise devotee does not approach Ishvara for something else. He approaches Ishvara to gain only Ishvara and nothing else. Here, Shri Krishna adds another

reason for singling out the wise devotee as special. The wise devotee considers Ishvara as his own self and not as another object.

He clarifies in this verse that whatever may be the reason for their devotion, all His devotees are privileged; even the other three kinds are blessed souls. But the devotees seated in knowledge worship God selflessly, without expecting any material gains in return. Hence, the unconditional love of such selfless devotees even binds God.

Parā bhakti or divine love is totally different. It is filled with the desire for the happiness of the Divine Beloved and sacrifice in His service. Divine love fosters a giving attitude without expecting anything in return. There is no give and take attitude, and there is no expectation of receiving something in return from the beloved.

First, let us look at the sense of oneness aspect. What is different between a good friend and an acquaintance? There is always a sense of "otherness" between us and the acquaintance, but there is a sense of oneness with the good friend. We see this in a lot of proverbs: "a friend in need is a friend indeed", "my house is your house" on so on. The ultimate closeness with a friend is when we do not see any difference between doing something for ourselves and doing something for our friend. In other words, we see our friend as our own self.

Similarly, whenever we expect something from God, we are by definition treating him as someone different from our own self. Shri Krishna says that he prefers if we treat him as our own self. Such kind of devotion, where the seeker plants himself in Ishvara day in and day out, and melts his existence into Ishvara's cosmic existence, is the greatest kind of devotion. This is also known as ekabhakti or advaita, where there is no duality between devotee and Ishvara.

However, the reality is different. Most of us consider Ishvara as different than ourselves. One colourful illustration of this is found in the Hindi phrase "bhee aur hee siddhanta" which means "also philosophy" vs "only philosophy". In other words, we love material objects and Ishvara "also". Shri Krishna says that we should love Ishvara "only" and not "also".

Now, this does not mean that Ishvara gives second class treatment to the other three types of devotees. Shri Krishna says that those other devotees are "udaaraha" or sincere. Ishvara is affectionate towards all of them.

Having pointed out the unique aspects of the wise devotee, Shri Krishna highlights the scarcity of wise devotees in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में चार प्रकार से उत्तम कर्म करने वाले 1) आर्त, 2) अर्थार्थी 3) जिज्ञासु, 4) ज्ञानी जीव का वर्णन किया गया है जो भगवान को समर्पित है। इस में ज्ञानी को भगवान ने सर्व श्रेष्ठ बताया है क्योंकि वो ही अहंता एवम कामना से रहित हो कर स्वयं की आत्मा को परमात्मा में एवम परमात्मा में स्वयं की आत्मा को देखता है।

यहां भगवान अन्य तीनो भक्तों के बारे में बताते है कि यद्यपि चारो ओर मैं ही एकता से भरा हूँ किन्तु प्रकृति एवम पुरुष इन दोनों में मेरे स्वरूप की आराधना करना इन तीनो उपासकों के लिये ज्यादा सरल है क्योंकि इस मे मेरी पहचान हो सकती है। उपासना सभी को करनी चाहिए चाहे वो व्यक्त स्वरूप में हो या अव्यक्त स्वरूप में। किन्तु जब उपासना किसी विशेष हेतु या किसी भी वस्तु या स्थिति विशेष की प्राप्ति के लिए हो तो वो निम्न बुद्धि की स्वार्थ हेतु की ही मानी जायेगी। इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान प्राप्ति के लिये जिज्ञासु बन कर भक्ति करना भी अधूरा है क्योंकि इस मे अहम अर्थात जिज्ञासु तत्व बना रहता है, इस लिये इसे भी कमजोर ही समझना चाहिए।

अतः मेरी आराधना करने वाले प्रथम तीन प्रकार के भक्त परिपूर्ण नही होते। उन्हें परिपूर्ण होने के लिए ज्ञान या वस्तु प्राप्ति के बाद जगत में कुछ भी शेष न रहने के बाद जब निष्काम बुद्धि से ज्ञान युक्त भक्ति करना आवश्यक है। यह तीनों की भक्ति के पीछे कामना रहती ही है। यहां भगवान यह भी स्पष्ट कर देते है कि जो उसे जिस भी रूप एवम हेतु के लिये पूजता है, उस वो उसी रूप एवम हेतु को प्रदान कर के स्वीकार करते है क्योंकि वो ही सभी मे है।

परमात्मा के दृष्टिकोण में जीव के प्रति विभेद है, यदि हम आर्त भक्त या आलोचक के दृष्टिकोण से देखे। किंतु यदि योग के दृष्टिकोण से इसे देखे तो हमे समझ में आयेगा कि मुक्ति के लिए सब से बड़ा बंधन कामना, आसक्ति और अहम का है। इसलिए आर्त भक्त भी करुणा से भर कर दुख में भगवान को पुकारता है तो उसे बचाने भगवान को दौड़ कर आना पड़ता है, जिस का उदाहरण द्रोपति चीर हरण एवम गजेंद्र मोक्ष है। ऐसे ही अर्थार्थी जिज्ञासु किसी कार्य को करते है तो उसे भी उसी की मनोकामना के अनुसार फल परमात्मा ही देता है जिस का उदाहरण ध्रुव का है। फिर ज्ञानी तो कामना, आसक्ति और अहम के मुक्त होता है तो वह जिस ने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया हो, जो स्वयं ब्रह्मसंध हो, वह तो परमात्मा के अत्यंत समीप होता है। इसलिए विभेद परमात्मा द्वारा नही हो कर, भक्त की भक्ति का होता है। परमात्मा तो सभी के लिए समान है। जो जीव पूर्णतयः तम गुण में रहता है अर्थात अज्ञान में ही रहता है, उस के ज्ञान का भी हरण हो जाता है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण में किसी संस्थान में विभिन्न कर्मचारियों में जो सैलरी की आशा में मेहनत करता है या जो यह सोच कर मेहनत करता की उस के संकट पर मालिक सहायता करेंगे या फिर जो सीखने के लिये जी तोड़ मेहनत करता है, संस्थान का मालिक इन तीनो से संतुष्ट रहता है और उन की कामनाओं के अनुसार उन को सहायता भी करता है, किन्तु उस के सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी वही है जो संस्थान को अपना समझ कर कार्य करे। संस्थान के विकास, लाभ-हानि एवम व्यवसायिक चुनोतियो को बिना कोई आशा के मेहनत से करे। इस प्रकार का कर्मचारी यथा शीघ्र संस्थान के मालिक जैसे अधिकारों से सम्पन्न हो जाता है।

ब्रह्ममैक्य या युक्तात्मा की स्थिति मोक्ष की बताई जाती है, अर्थात जब तक जीव में कामना, आसक्ति या अहम है, तब तक भक्ति करने वाला कितनी भी भक्ति करे, उस का द्वैतभाव बना ही रहेगा। इसलिये आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु यह तीनों भक्त उदार ह्रदय वाले सात्विक गुणों से युक्त परमात्मा के प्रिय भक्त होते है किन्तु जिस ने ज्ञान से अपने अहम, आसक्ति और कामना का त्याग कर के, अपने आप को ब्रह्म के साथ युक्तात्मा कर लिया है, वह तो परमात्मा में लीन ज्ञानी ही सर्वश्रेष्ठ भक्त माना जाता है।

विशाल ह्रदय के भक्तानुग्रहकारक भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि जो कोई भी भक्त मेरी भक्ति करता है वह अन्य जनों की अपेक्षा उत्कृष्ट ही है फिर चाहे वह अपने कष्ट निवारणार्थ मेरा भक्त हो अथवा वह अर्थार्थी हो। किसी न किसी प्रकार से वह मुझ अनन्तस्वरूप की ओर ही अग्रसर हो रहा होता है। अत वह उत्कृष्ट है। भक्तों का लौकिक पारलौकिक कामना पूर्ति के लिये अन्य की तरफ किञ्चिन्मात्र भी भाव नहीं जाता। वे केवल भगवान् से ही कामना पूर्ति चाहते हैं। भक्तों का यह अनन्य भाव ही उन की उदारता है। ज्ञानी यानि प्रेमी भक्त की विलक्षणता बतायी है कि दूसरे भक्त तो उदार हैं ही पर ज्ञानी को उदार क्या कहें वह तो मेरा स्वरूप ही है। स्वरूप में किसी निमित्त से किसी कारण विशेष से प्रियता नहीं होती प्रत्युत अपना स्वरूप होने से स्वतः स्वाभाविक प्रियता होती है। ज्ञान मार्ग का जो अद्वैत भाव है वह नित्य निरन्तर अखण्ड रूप से शान्त सम रहता है। परन्तु प्रेम का जो अद्वैत भाव है वह एक दूसरे की अभिन्नता का अनुभव कराता हुआ प्रतिक्षण वर्धमान रहता है। प्रेम का अद्वैतभाव एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक है। इसलिये प्रेमतत्त्व अनिर्वचनीय है। शरीर के साथ सर्वथा अभिन्नता (एकता) मानते हुए भी निरन्तर भिन्नता बनी रहती है और भिन्नता का अनुभव होने पर भी भिन्नता बनी रहती है। इसी तरह प्रेमतत्त्व में भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता बनी रहती है और अभिन्नता का अनुभव होने पर भी अभिन्नता बनी रहती है।

अतः भगवान की आराधना किसी भी उद्देश्य से की जाए उसे भगवान न केवल स्वीकार करते है वरन योग्यता के अनुसार फल भी देते है, किन्तु ज्ञानी भक्त कामना रहित होने से प्रेम से भगवान को बांध देता है।

ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त की वास्तविकता और उस के भजन का प्रकार आगे के श्लोक में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.18।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.19॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"bahūnāḿ janmanām ante,
jñānavān māḿ prapadyate.. ।
vāsudevaḥ sarvam iti,
sa mahātmā su-durlabhaḥ".. ।।

भावार्थ:

अनेकों जन्मों के बाद अपने अन्तिम जन्म में ज्ञानी मेरी शरण ग्रहण करता है उसके लिये सभी के हृदय में स्थित सब कुछ मैं ही होता हूँ, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है। (१९)

Meaning:

At the end of several births, the wise one seeks my refuge knowing that Vaasudev is everything. Such an individual is supreme and extremely rare.

Explanation:

Shri Krishna previously pointed out that the wise devotee is special because he does not use Ishvara to gain anything else but Ishvara. He treats Ishvara no different than his own self. Here, Shri Krishna emphasizes the fact that such people, who know that the ultimate cause of everything is Ishvara, are extremely rare and exalted. In fact, it has taken them several lives worth of effort to get to this stage.

Shree Krishna says that jñānīs spend several lifetimes seeking true knowledge, and when their knowledge matures into true wisdom, that the Supreme Lord is all that is; they surrender to Him. However, He does not say this for the jñānīs, karmīs, haṭha-yogis, ascetics, etc. He declares this for the devotees or such exalted souls who have realized “God is all that is” and surrendered to Him. Nevertheless, such noble souls are very rare.

Let us examine the nature of this effort that has led to this vision of the wise devotee. This effort is of two types - the dawning of knowledge that there is a single cause behind everything, and the surrender of one’s ego to that single cause or Ishvara. There is no specific order in which these can happen first, but both are necessary. The individual who has gone through so much effort to get to this stage is most certainly rare and privileged.

Now, we need to be careful in how we interpret the second half of this shloka.

"Vaasudev" means one who resides in all, as well as one in whom everything and everyone resides. In other words, the phrase "Vaasudev is everything" denotes "Ishvara is everything". If we get stuck with the image of "Vaasudev", if we forget that Vaasudev is an indicator for the one Ishvara, we will begin to develop a fanatic attitude towards people who worship other deities.

The Ramayan states:

"Without knowledge, there cannot be faith; without faith, love cannot grow."

Similarly, if someone has acquired true knowledge and claims to know the Brahman, then love for Him comes naturally. Else their knowledge is merely theoretical if they do not feel the love that fosters devotion.

The living entity, while executing devotional service or transcendental rituals after many, many births, may become situated in transcendental pure knowledge that the Supreme Personality of Godhead is the ultimate goal of spiritual realization. In the beginning of spiritual realization, while one is trying to give up one's attachment to materialism, there is some leaning towards impersonalism, but when one is further advanced, he can understand that there are activities in the spiritual life and that these activities constitute devotional service. Realizing this, he becomes attached to the Supreme Personality of Godhead and surrenders to Him. At such a time one can understand that Lord Sri Krishna's mercy is everything, that He is the cause of all causes, and that this material manifestation is not independent from Him. He realizes the material world to be a perverted reflection of spiritual variegatedness and realizes that in everything there is a relationship with the Supreme Lord Krishna. Thus, he thinks of everything in relation to Vasudeva, or Sri Krishna. Such a universal vision of Vasudeva precipitates one's full surrender to the Supreme Lord Sri Krishna as the highest goal. Such surrendered great souls are very rare.

So, he knows Krishna parāmathma, the formless Krishna is in the form of the entire creation; sarvam iti jñānavān. Such a jñāni alone is mahātma; greatest seeker; noblest soul; and such a person is extremely rare. Krishna has said in the beginning of this chapter.

Next, Shri Krishna elaborates on the topic of worship for finite gain.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक में चारो प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को ही सर्वश्रेष्ठ बताया एवम उसे वासुदेव अर्थात स्वयं का ही रूप बताया। वासुदेव यानि इस तत्त्व को समझने के दो प्रकार हैं (1) संसार का अभाव कर के परमात्मा को रखना अर्थात् संसार नहीं है और परमात्मा है (2) सब कुछ भगवान् ही भगवान् हैं। इस में जो परिवर्तन दीखता है वह भी भगवान् का ही स्वरूप है क्योंकि भगवान् के सिवाय उस की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।उपर्युक्त दोनों ही प्रकार साधकों के लिये हैं। जिस साधक का पदार्थों को लेकर संसार में आकर्षण (राग) है उसको यह सब कुछ नहीं है केवल परमात्मा ही है।

संसार का अभाव कर के परमात्म तत्त्व को जानना भी तत्त्व से जानना है और संसार को भगवत्स्वरूप मानना भी तत्त्व से जानना है। कारण कि वास्तव में तत्त्व एक ही है। फरक इतना ही है कि ज्ञानमार्ग में जानने की प्रधानता रहती है और भक्तिमार्ग में मानने की प्रधानता रहती है। इसलिये भगवान् ने ज्ञानमार्ग में मानने को भी जानने के अर्थ में लिया है और भक्तिमार्ग में जानने को भी मानने के अर्थ में लिया है। इस में एक खास बात समझने की है कि परमात्मा को जानना और मानना दोनों ही ज्ञान हैं तथा संसार को सत्ता देकर संसार को जानना और मानना दोनों ही अज्ञान हैं। संसार को तत्त्व से जानने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव हो जाता है और परमात्मा को तत्त्व से जानने पर परमात्मा का अनुभव हो जाता है। ऐसे ही संसार भगवत्स्वरूप है ऐसा दृढ़ता से मानने पर संसार की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव हो जाता है और फिर संसार रूप से न दीख कर भगवत्स्वरूप दीखने लग जाता है। तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व का अनुभव होने पर जानना और मानना दोनों एक हो जाते हैं।

क्षर-अक्षर समस्त सृष्टि को अपना स्वरूप बताने के बाद, जीव को इस स्वरूप का ज्ञान हो जाये, तो ही वह वासुदेव है। जड़ शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सभी प्रकृति के भाग है, इसलिये प्रकृति के संयोग होने के बाद जीव कर्ता भाव और भोक्ता भाव मे ही सुख या आनंद खोजता है। सुख पाने की यह कामना, अज्ञान की धारा में बहती है और वह यह सुख पृथ्वी से ले कर ब्रह्मलोक तक खोजता ही रहता है। जितने भी कर्म करता है, उस के फल की कामना रखता है। यही कारण है कि ब्रह्म ज्ञान जिस में कामना, आसक्ति और अहम को छोड़ कर ही प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त करते करते अनेक जन्म तक भी लग जाते है। किंतु योगभ्रष्ट योगी का प्रयास निरर्थक नही होता, यह भगवान श्री कृष्ण पहले ही स्पष्ट बता चुके है।

सृष्टि में समस्त चेतन जीवों की तुलना में मानव की संख्या अत्यन्त कम अनुपात में है। मनुष्य जाति में भी सभी परिपक्व बुद्धि एवं उच्च भावनाओं से सम्पन्न नहीं होते हैं। अन्तकरण के श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होने पर भी बहुत कम लोग हैं जो गम्भीरतापूर्वक शास्त्राध्ययन करते हैं और शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को अपने जीवन में जीने वालों की संख्या तो नगण्य ही होती है। अनेक लोगों को केवल बौद्धिक ज्ञान से ही सन्तोष हो जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास के चरम लक्ष्य आत्मानुभूति तक पहुँचने वाले ज्ञानी पुरुष विरले ही होंगे।

सर्वोच्च ज्ञान को प्राप्त हुए श्रेष्ठ महात्मा पुरुष जगत् में विरले ही होते हैं यह भगवान् श्रीकृष्ण का भी कथन है। इस से हम कल्पना कर सकते हैं कि अहंकार को हटाकर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले विकास के सर्वोच्च लक्ष्य सम्पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए कितने जन्मों की तपस्या होनी चाहिए। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम इसी वर्तमान जन्म में ही जीवन के इस सर्वोच्च

लक्ष्य ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते। गीता का कथन निराशाजनक नहीं वरन् उत्साहवर्धक है। यहाँ बताये गये असंख्य जन्म ज्ञान प्राप्ति के पूर्व के हैं पश्चात् के नहीं। अतः आप ने 84 लाख योनियों के जन्मों को पार कर के इस जन्म को प्राप्त किया है। यदि मनुष्य अपने जीवन की अनेक उपलब्धियों से भी असन्तुष्ट होकर जीवन का वास्तविक लक्ष्य जानने का प्रयत्न करता है तो यह स्वयं ही विकास की एक अवस्था है। अतः और अधिक लगन से प्रयत्न करने पर इसी जन्म में वह मानव जन्म के परम पुरुषार्थ आत्म संस्थिति को प्राप्त हो सकता है। ज्ञान और भक्ति में जीव अर्थार्थी, आर्त या जिज्ञासु किसी भी भाव में परमात्मा का ध्यान या स्मरण करें, वह कालांतर में परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने के तैयार होता ही है।

यहां **महात्मा** शब्द का प्रयोग उस विरले ज्ञानी के लिए किया है जिस ने अथक परिश्रम से अनेक जन्मों के पश्चात परमात्मा के स्वरूप को न केवल जान लिया है, अपितु स्वयं भगवद स्वरूप हो गया है। हम लोग शब्दो से भी व्यभिचार या बलात्कार तब करते है, जब ये महान शब्द उन लोगो के प्रयोग में लाए जाते है, जो उस के अनुसार योग्यता नहीं रखते। प्रवचन में बैठे प्रवक्ता, जो बिना पैसे लिए प्रवचन या भागवत करने के आते नही, उन्हे महान संत और व्यास पीठ का अधिकारी बता देते है या अक्सर राजनीति से प्रेरित हो कर वोट की कामना और आसक्ति या प्रसिद्धि पाने के सभा का आयोजन कर के माला और प्रमाणपत्र का वितरण करने वाले, एक से एक बढ़कर उपाधियां भी रेवड़ी जैसे बांट देते है। किंतु महात्मा शब्द का प्रयोग भगवान भी लाखो में किसी एक भक्त के लिए कर रहे है, जो उन के सम रूप हो गया है।

यहाँ यह भी समझना जरूरी है कि अज्ञान की संस्कृति इतनी सशक्त है कि भगवान को भी हम जड़ प्रकृति में ही तलाश करते है। भजन कीर्तन, यज्ञ, दान -धर्म, कर्म आदि जितने भी मार्ग है, उस मे भूलोक से ब्रह्मलोक में सुख की कामना में जीव वासुदेव के स्वरूप को नही देख पाता। वासुदेव के स्वरूप को वही देख सकता है जिस ने अपने को प्रकृति स्वरूप से अलग कर लिया हो और कामना, आसक्ति, अहम से रिक्त हो कर क्षर-अक्षर सभी मे परमात्मा को देख रहा हो। ऐसा जीव स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। पतंजलि योग शास्त्र में इस के तप अर्थात निष्काम कर्मयोग आदि, स्वाध्याय से वेद, उपनिषदों और शास्त्रों का अध्ययन और मनन करना और ईश्वर प्राणिधान अर्थात निदिध्यासन करना सम्मलित है। यह तीनो यम, नियम आदि योग के अंगो के अंतर्गत किए जाते है। इस प्रकार वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के क्लेशों से मुक्त भी होता है।

ज्ञानी को वासुदेव रूपम कहना और अनेक जन्मों के पश्चात ही ब्रह्म ज्ञान होना और लाखों जीव में कुछ ही ज्ञानी होना, क्यों कहा है तो हम अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को अधिक महत्व पूर्ण कहते है। भूखे के लिये परमात्मा के ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण रोटी होती है, संकट में फसे व्यक्ति को सहायता संकट से निवारण की चाहिये और काम धंधे वाले व्यक्ति को आमदनी भी परमात्मा से ज्यादा जरूरी लगती है। यह जीवन जब तक सुरक्षित और साधन सम्पन्न न हो, परमात्मा की बाते बेमानी लगती है। इसलिये सारी मानवता, दया, धर्म, यज्ञ, दान आदि सुख की खोज में निकल जाते है। किंतु अच्छे के लिये किया प्रयास ही हमे ज्ञानी बनाता है और ज्ञानी बनते बनते अनेक जन्म व्यतीत हो जाते है। थोपा हुआ ज्ञान किसी को गुरु तेगबहादुर या गुरु अंगददेव नही बना सकता, जिसे कोई शारीरिक कष्ट दे कर परमात्मा की भक्ति से डिगा दे।

स्वामी विवेकानंद जी जीवन के इस सत्य को उजागर करते हुए कहा है कि भूखे और गरीब व्यक्ति के समझ यदि ज्ञान और रोटी में किसी एक को चुनने का विकल्प हो तो, वह रोटी को चुनेगा। अतः भक्ति का प्रारंभ आर्त भक्त से ही होता है, जो अपने कष्ट के लिए भगवान को याद करता है, किंतु उस का अंतिम पड़ाव ज्ञानी भक्त ही होता है और उस के लिए अनेक जन्म लेने पड़ सकते है।

अन्नीदेवत और एकांतिक भक्त जिस प्रकार निराशी अर्थात फल आशा रहित कर्म करता है, उस प्रकार अन्य तीन भक्त नही करते। वे मन मे कुछ न कुछ रख कर भक्ति करते है। अगले श्लोक में उन लोगो के बारे में पढ़ेंगे जो वासुदेव न हो है अपनी कामनाओं एवम अहम में उन की पूर्ति के अन्य देवताओं को भजते है। हमे यह भी समझना जरूरी है जब परब्रह्म एक ही है तो यह भिन्न भिन्न प्रकार के देवता कौन है और इन की उपासना क्या होती है और यह कैसे फल देते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.19।।

॥ श्रीमद्‍भगवद्‍गीता ॥ 7.20॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

"kāmais tais tair hṛta-jñānāḥ,
prapadyante 'nya-devatāḥ..।
taḿ taḿ niyamam āsthāya,
prakṛtyā niyatāḥ svayā"..।।

भावार्थ:

जिन मनुष्यों का ज्ञान सांसारिक कामनाओं के द्वारा नष्ट हो चुका है, वे लोग अपने- अपने स्वभाव के अनुसार पूर्व जन्मों के अर्जित संस्कारों के कारण प्रकृति के नियमों के वश में होकर अन्य देवी-देवताओं की शरण में जाते हैं। (२०)

Meaning:

They, whose knowledge has been usurped by desires, seek refuge of other deities. They resort to rites, compelled by their own nature.

Explanation:

Krishna is going to classify Bhakthi broadly into two types, Sakāma bhakthi and Niṣkāma bhakthi; Sakāma bhakthi and Niṣkāma bhakthi; these are the two classifications of which Krishna is going to deal with Sakāma bhakthi; from verse No.20 up to verse 26

Shri Krishna praised the wise devotee's quest for the infinite Ishvara in the previous shlokas. He now proceeds to describe the other category of devotees. These devotees feel a sense of incompleteness. They keep looking for finite things such as people, objects and situations to make themselves feel complete. Shri Krishna says that such devotees, compelled by their nature, seek the refuge of finite deities. They do so because their discrimination is usurped by the force of their desires.

Shree Krishna says that people worship the devatās (celestial gods) as per the prescribed rituals to attain material gains. Material desires have shrouded their knowledge. Hence, they forget that the Supreme Lord is the source of all that exists, including these celestial gods. As a president of a country appoints his officers among different departments. Similarly, these celestial gods also occupy different positions in the working of God's creation. They derive their powers from God; they are not independent of Him. They can bestow on their devotees only material things that are under their control. But cannot liberate anyone from the bondage of Maya or the cycle of birth and death because; they themselves are not liberated from this cycle. God alone has the power to do so. The celestial gods are also souls like us. However, they have attained these positions in the celestial abodes as a result of their pious deeds from previous lives. Once their account of pious deeds depletes, they have to return to earth. Hence, even the celestial gods are perishable; God alone is eternal.

First, let us look at what is meant by usurping of knowledge by desires. We have seen the example earlier of a family walking through a shopping mall. The husband and the wife see the exact same shops. Both their intellects give them the same knowledge of objects. In other words, both of them recognize that "this is a nice outfit" and "this is an Ipod". But their behaviour towards these objects will be different due to the difference in their respective desires. The husband will think "I want that Ipod" whereas the wife will think "I want that outfit".

Now, unlike the wise devotees, such devotees still have not shifted their focus towards the ultimate goal that will give them infinitude - Ishvara. They still harbour desires for material objects, people and situations that prevents them from contacting the infinite. So then, due to the force of their desires, they look for something finite to give them happiness. To that end, they propitiate deities

that will give them their finite objects of desire. They approach Lord Ganesha to remove obstacles in their line of work, for example.

Their situation is no different than a businessman who wants to build a factory. He will have to appease the local minister to get land clearances. He will have to appease the local union leader to ensure the smooth running of his factory. He will have to appease his customers so that they will keep placing orders for his goods. But in doing so, he will have to dance to their tune. He may have to give someone's son-in-law a job in his factory, and so on and so forth. Similarly, in order to propitiate these deities, we may also have to follow prescribed rites and rituals that are specific to each deity.

Shri Krishna says that even if pursuing limited or finite goals is not the way to go, Ishvara will still demonstrate compassion towards such devotees, indicated by the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीवात्मा एवम परमात्मा दोनो ही पुरुष है, किन्तु जीवात्मा में सांसारिक क्लेश, अविद्या, शुभ -अशुभ कर्म, कर्मों के फल और उस को भोगने की लालसा होती है, यह नही है तो जीव भी परमात्मा है। कोई भी इच्छा स्थायी या नित्य सुख नही दे सकती, क्योंकि इच्छाए बदलती रहती है, एक कि आपूर्ति, दूसरी इच्छा के जन्म का कारण बनती है, जब इच्छा की पूर्ति देवता करेंगे, उस की सत्ता भी स्थायी नही हो सकती। जीव माया से नियंत्रित होता है और माया को परमात्मा नियंत्रित करता है। माया का अर्थ सत - रज - तम गुण अर्थात कामना, आसक्ति, काम, क्रोध, राग - द्वैष, लोभ, मोह आसक्ति और कुल मिला कर धर्म, अर्थ और काम।

पूर्व श्लोक में ज्ञानी भक्त के बारे में पढ़ा, जिस ने अपनी कामनाओं एवम अहम को त्याग कर परमात्मा को प्राप्त किया एवम वासुदेव कहलाया। अब हम उन तीन भक्तों के बारे में पढेंगे जिन्हें हम आर्त, अर्थार्थी एवम जिज्ञासु के नाम जानते है। इसलिए श्लोक 20 से 26 तक हम भगवान श्री कृष्ण द्वारा सकाम भक्ति को समझेंगे।

कामना एवम अहम का त्याग न कर पाने के कारण उपरोक्त तीनो भक्त परमात्मा की उपासना विशेष प्रयोजन से करते है जिस में उन की कामनाये की पूर्ति की अपेक्षा जुड़ी रहती है। निर्मल बुद्धि एवम सात्विक या राजसी गुण युक्त प्रवृति होने के कारण यह ईश्वर की आराधना कामना विशेष के साथ करते है। इन का विवेक इन की कामनाओं एवम अहम के कारण सांसारिक आवश्यकताओ से जुड़ जाता है, तत्वज्ञान उन की कामनाओं के पीछे छुप जाता है। घर गृहस्थी, स्त्री, धन, सुरक्षा, मान सम्मान, पद, लाभ, निरोग, शत्रु विजय, व्यापार एवम व्यवसाय आदि अनेक कामनाये इस सांसारिक जीवन से ले कर मोक्ष, देव दर्शन, स्वर्ग एवम वैकुंठ आदि परा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति हेतु जीव परमात्मा की आराधना करने लगता है।

यह सर्व जगत् आत्मस्वरूप वासुदेव ही है इस प्रकार न समझ में आने का कारण हैं पुत्र पशु स्वर्ग आदि भोगों की प्राप्ति विषयक नाना कामनाओं द्वारा जिन का विवेक विज्ञान नष्ट हो चुका है वे लोग अपनी प्रकृति से अर्थात् जन्मजन्मान्तर में इकट्ठे किये हुए संस्कारों के समुदायरूप स्वभाव से प्रेरित हुए अन्य देवताओं को अर्थात् आत्मस्वरूप मुझ वासुदेव से भिन्न जो देवता हैं उन को उन्हीं की आराधना के लिये जो जो नियम प्रसिद्ध हैं उन का अवलम्बन कर के भजते हैं अर्थात् उन की शरण लेते हैं।

पूर्व में ही हमने पढ़ा कि आसुरी प्रवृति के ज्ञान का मार्ग अवरुद्ध हो जाता, वैसे ही कामना के साथ परमात्मा को भजने, ध्यान लगाने से या पूजा पाठ करने से कामना की पूर्ति तो हो सकती है, किन्तु मोक्ष का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जिस की जैसी भावना हो, कामना हो, भगवान उस को उसी रूप में दिखते है। अतः कामनाओं की पूर्ति के विशिष्ट देवता तय हो जाते है, जो अपने अपने आराध्य को उस की श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न हो कर उसे उस की कामना के अनुसार और उन के अपने सामर्थ्य के अनुसार वरदान देते है। यह सभी देवताओं को वरदान देने की शक्ति भी परब्रह्म से ही प्राप्त है। याद रहे जो अपना सम्बन्ध सीधे मालिक से रखता है, उसे मालिक जो सुविधा दे सकता है, वह उस का कर्मचारी नही दे सकता।

वासुदेव को छोड़ कर अन्य देवता का अर्थ यही है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में वासुदेव के अतिरिक्त कोई भी देवता मोक्ष नहीं दे सकता। वह अपने सामर्थ्य के अनुसार सांसारिक या प्रकृति की कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। यदि हम शिव पुराण पढ़ते है तो शिव के बारे में, गणेश पुराण में गणेश के बारे ने और देवी भागवत में देवी के बारे आदि इसी प्रकार की गाथा कही गई है। तो इस का अर्थ हम यही समझे कि उस देवता के अतिरिक्त कोई भी देवता सीमित सामर्थ्य रखता है। इसलिए कौन देवता असीमित और कौन देवता सीमित है, इस प्रकार के तर्क - वितर्क में नही फसना चाहिए। सनद रहे कि हम भगवद गीता में भगवान श्री कृष्ण को सुन रहे है तो हम यह बात वासुदेव के विषय में सुन रहे है। वास्तव में ब्रह्म कोई भी सगुण देवता या देवी नही है, परब्रह्म ही निर्गुण और नित्य स्वरूप है और जीव उस का अंश होने से ही ब्रह्म स्वरूप है, इसलिए वह जब सकाम हो कर धर्म, अर्थ और काम में जिस भी देवी - देवता की अर्चना, पूजा या भक्ति करता है और इस के लिए वह जो भी भोग, प्रसाद, रुपए, पैसे या शर्त रखता है तो वह देवी देवता भी सीमित हो कर उसे उस से अधिक प्रदान नही कर सकता। किंतु जब वह मोक्ष के लिए ज्ञान को प्राप्त करता है तो उस के समक्ष कोई भी देवी - देवता नही हो कर आत्मशुद्धि या चित्तशुद्धि का मार्ग उसे निर्गुण परब्रह्म की ओर ले जाता है। वह अपने ही अज्ञान के अध्यास को मिटाने की चेष्टा करता है, इसलिए मोक्ष या मुक्ति की आकांक्षा और धर्म, अर्थ और काम की इच्छा दोनो ही जीव के भाव है।

विवेक सार्मथ्य मानव जन्म की विशेषता है और यह सर्वथा असंभव है कि विवेक के प्रखर और सजग होने पर मनुष्य को आत्मज्ञान न हो सके। परन्तु मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियां और विषयभोग की कामनायें उस के विवेक को आच्छादित कर देती हैं।

देवता शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे प्रकृति के नियमों के अधिष्ठाता देवता इन्द्र वरुण आदि इन्द्रियां किसी कार्य क्षेत्र में निहित उत्पादन क्षमता आदि। यहाँ इन में से कोई भी अर्थ लेकर इस श्लोक का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि भोगी पुरुष इन की आराधना केवल वैषयिक सुख को प्राप्त करने के लिए ही करता है। वह कामना से प्रेरित होकर तत्पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता रहता है।

शान्त मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट और स्थिर दिखाई देता है परन्तु कामनाओं के स्रोतों से प्रवाहित होने वाली विचारों की धारायें उस में विक्षेप उत्पन्न करके प्रतिबिम्ब को भी विचलित कर देती हैं। मन के क्षुब्ध होने पर बुद्धि की विवेक सार्मथ्य लुप्त हो जाती है और स्वभावत फिर मनुष्य सत्य असत्य का विवेक नहीं कर पाता है। जब मनुष्य की बुद्धि का आलोक कामना के मेघों से आवृत हो जाता है तब आसक्तियों और अवगुणों के उलूक मन के जंगल में शोर मचाने लगते हैं। मन में इच्छा के उदय मात्र से मनुष्य का पतन नहीं होता बल्कि पतन का कारण है, उत्पन्न इच्छा के साथ उस का तादात्म्य। इस तादात्म्य के द्वारा मनुष्य अनजाने में अपनी इच्छाओं को बढ़ावा देकर असंख्य विक्षेपों को जन्म देता हुआ स्वयं उनका शिकार बन जाता है।

अन्न के सूक्ष्म तत्त्व का ही रूप वृत्ति (विचार) है और इसलिए वह स्वयं जड़ है। वृत्तिरूप मन आत्मा से चेतनता प्राप्त करता है और कामी व्यक्ति से सार्मथ्य। विचारों के अनुसार कर्म होता है। एक बार मनुष्य के मन में कोई कामना दृढ़ हो जाये तो वह यह विवेक खो देता है कि उस कामनापूर्ति से उसे नित्य शाश्वत सुख मिलेगा या नहीं। क्षणिक सुख की आसक्ति के कारण वह अन्यान्य देवताओं को सन्तुष्ट करने में व्यस्त रहता है।

कामना से प्रेरित भक्ति के लिये देवता का चयन भी उस देवता की आदिशक्ति के अनुसार होता है। प्रायः पंडित, ज्योतिष और अपने को ज्ञानी समझने वाले लोग कामनाओं के अनुसार ही बताते है, इस के लिये किस देवता की पूजा करे और उस का क्या विधि विधान है, जिस से वह देवता प्रसन्न हो कर वरदान दे दे।

अब यह भी सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक देवता को सन्तुष्ट करने के विशेष नियम होते हैं। सकाम भक्ति लेन - देन की भक्ति अर्थात व्यापारिक, व्यवसायिक होती है। भक्त प्रसाद, रुपए या नियम या त्याग, यात्रा, दर्शन आदि का प्रलोभन दे कर भगवान को रिझा कर अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहता है। इन्द्रादि देवताओं को यज्ञयागादि के द्वारा इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के द्वारा तथा कार्यक्षेत्र की उत्पादन क्षमता को व्यक्त करने के लिए उचित उपकरणों और उनके योग्य उपयोग के द्वारा सन्तुष्ट करके इष्ट फल प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि वे अन्यान्य देवताओं को विशिष्ट नियमों का पालन करके भजते हैं।एक वासुदेव को त्यागकर लोग अन्य देवताओं को क्यों भजते हैं इसका कारण श्लोक की दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि प्रकृत्या नियत स्वया। प्रत्येक मनुष्य अपनी पूर्व संचित वासनाओं के अनुसार भिन्नभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होकर तदनुसार कर्म करता है। यह धारणा कि स्वर्ग में बैठा कोई ईश्वर हमारे मन में इच्छाओं को उत्पन्न कराकर हमें पाप और पुण्य के कर्मों में प्रवृत्त करता है केवल निराशावादी निर्बल और आलसी लोगों की ही हो सकती है। बुद्धिमान साहसी और उत्साही पुरुष जानते हैं कि मनुष्य स्वयं ही अपने विचारों के अनुसार अपने वातावरण कार्यक्षेत्र आदि का निर्माण करता है।

संक्षेप में एक मूढ़ पुरुष शाश्वत सुख की आशा में वैषयिक क्षणिक सुखों की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है जबकि विवेकी पुरुष उसकी व्यर्थता पहचान कर पारमार्थिक सत्य के मार्ग पर अग्रसर होता है।

तात्पर्य है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिये जो विवेकयुक्त मनुष्य शरीर मिला है उस शरीर में आकर परमात्मा की प्राप्ति न करके वे अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में ही लगे रहते हैं। संयोगजन्य सुख की

इच्छा को कामना कहते हैं। कामना दो तरह की होती है यहाँ के भोग भोगने के लिये धनसंग्रह की कामना और स्वर्गादि परलोक के भोग भोगने के लिये पुण्यसंग्रह की कामना।धनसंग्रह की कामना दो तरह की होती है पहली यहाँ चाहे जैसे भोग भोगें चाहे जब चाहे जहाँ और चाहे जितना धन खर्च करें सुखआराम से दिन बीतें आदि के लिये अर्थात् संयोगजन्य सुख के लिये धनसंग्रह की कामना होती है और दूसरी मैं धनी हो जाऊँ धन से मैं बड़ा बन जाऊँ आदि के लिये अर्थात् अभिमानजन्य सुख के लिये धनसंग्रह की कामना होती है। ऐसे ही पुण्यसंग्रह की कामना भी दो तरह की होती है पहली यहाँ मैं पुण्यात्मा कहलाऊँ और दूसरी परलोक में मेरे को भोग मिलें। इन सभी कामनाओं से सत्असत् नित्य अनित्य सार असार बन्धमोक्ष आदि का विवेक आच्छादित हो जाता है। विवेक आच्छादित होने से वे यह समझ नहीं पाते कि जिन पदार्थों की हम कामना कर रहे हैं वे पदार्थ हमारे साथ कब तक रहेंगे और हम उन पदार्थों के साथ कब तक रहेंगे।

कामना पूर्ति के लिये अनेक उपायों और नियमों को धारण कर के मनुष्य अन्य देवताओं की शरण लेते हैं भगवान् की शरण नहीं लेते।

यहाँ अन्यदेवताः कहने का तात्पर्य है कि वे देवताओं को भगवत्स्वरूप नहीं मानते हैं प्रत्युत उन की अलग सत्ता को मानते हैं इसी से उन को अन्तवाला (नाशवान्) फल ही मिलता है। अतः यह भक्त लोग वासुदेव अर्थात उस एकत्व परमात्मा को त्याग के सरस्वती, शिव, हनुमान, दुर्गा या तामस या वाममार्ग आदि की यंत्र, मंत्र एवम तंत्र द्वारा आराधना करने वाले अपनी विशिष्ट कामनाओं की पूर्ति के लिये इस की विशिष्ट पद्धिति से इन देवी देवताओं की आराधना करते है और अपनी कामनाओं की पूर्ति करते है। वो इसे ही ज्ञान योग, ध्यान योग एवम भक्ति योग समझते है और इन का विवेक कामनाओं द्वारा हर लिया जाता है। हर देवी देवता में, अपरा-परा प्रकृति का भाग होने से, वासुदेव ही है, किन्तु यह विशिष्ट देवी देवता वासुदेव नही है, इसलिये भगवान कहते है मुझे जो जिस रूप में पूजता है मैं उसे उसी रूप में स्वीकार करता हूँ एवम उसी प्रकार से उसे फल देता हूँ। किन्तु यदि कामना एवम अहम न हो तो ज्ञान युक्त आराधना किसी भी रूप में वासुदेव ही है। भगवान कृष्ण भी मानव अवतार में सीमित देवी देवता ही है, क्योंकि सीमित देवी - देवता का कार्यकाल भी सीमित ही होता है। ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि का जब महाप्रलय होगा तो उस के बाद जो शेष रहेगा, वह परब्रह्म है, जो असीमित है। इसलिए जो स्वयं असीमित है, उस से जो भी कामना या आसक्ति रखते हुए, भक्ति की जाती है, उस के फल भी सीमित हो प्राप्त होते है।

भगवान को भजने वाले इन तीनो प्रकार के भक्त जब भगवान को न पूजते हुए अन्य देवताओं की पूजा विशिष्ट पद्धिति से अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु करने लग जाते है तो परमात्मा उन के साथ क्या करता है यह हम अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.20।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.21॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

"yo yo yāḿ yāḿ tanuḿ bhaktaḥ,
śraddhayārcitum icchati.. l
tasya tasyācalāḿ śraddhāḿ,
tām eva vidadhāmy aham".. l l

भावार्थ:

जैसे ही कोई भक्त जिन देवी-देवताओं के स्वरूप को श्रद्धा से पूजने की इच्छा करता है, मैं उस की श्रद्धा को उन्ही देवी-देवताओं के प्रति स्थिर कर देता हूँ। (२१)

Meaning:

Whichever devotee desires to faithfully worship a particular form, I fortify his faith in exactly that (form).

Explanation:

The chapter so far dealt with the notion of the infinite Ishvara's ability to bless us with infinitude. But Shri Krishna recognized that not all devotees have the vision of pursuing that infinite Ishvara. That is why they worship finite, localized forms of Ishvara in the form of deities such as Ganesha, Saraswati and so on for their material desire.

So, in this shloka, Shri Krishna offers a ray of hope for such devotees. Even if we worship a finite deity with faith and a finite goal, Ishvara will ensure that our finite goals are awarded to us. In doing so, Ishvara will strengthen our faith in that deity.

There is nothing wrong in asking for something finite. All notions of spirituality, no matter how finite the goal, are equally valid. They have the power to lift us from our egoic centre towards the universal.

Shree Krishna had earlier mentioned that those who are in true knowledge engage in the highest and the most beneficial kind of śhraddhā that is to worship the Supreme Lord. Then one might ask, why the Supreme Lord creates faith in people toward the celestial gods—is it not inappropriate?

Let us look at this example of parents giving dolls to their small children. The child plays with these dolls as if they were real people and develops love and affection towards them. The parents are aware of the child's innocence, yet

they encourage this play to help the child develop the qualities of love, care, and affection towards other people. These qualities will help children become socially responsible when they grow up.

Similarly, our eternal parent God is aware of our ignorance. Hence, when He finds that some souls engage in worship of the celestial gods for material gains, He helps them by steading their faith. He is aware that this experience will help in the evolution of the soul, and once they acquire true knowledge that the Supreme Lord is the summum bonum or the highest good of everything, they will surrender to Him.

God has given independence to everyone; therefore, if a person desires to have material enjoyment and wants very sincerely to have such facilities from the material demigods, the Supreme Lord, as Super soul in everyone's heart, understands and gives facilities to such persons. As the supreme father of all living entities, He does not interfere with their independence, but gives all facilities so that they can fulfil their material desires. Some may ask why the all-powerful God gives facilities to the living entities for enjoying this material world and so lets them fall into the trap of the illusory energy. The answer is that if the Supreme Lord as Super soul does not give such facilities, then there is no meaning to independence. Therefore, He gives everyone full independence - whatever one likes - but his ultimate instruction we find in the Bhagavad-Gita one should give up all other engagements and fully surrender unto Him. That will make man happy.

Both the living entity and the demigods are subordinate to the will of the Supreme Personality of Godhead; therefore, the living entity cannot worship the demigod by his own desire, nor can the demigod bestow any benediction without the supreme will. As it is said, not a blade of grass moves without the will of the Supreme Personality of Godhead. Generally, persons who are distressed in the material world go to the demigods, as they are advised in the Vedic literature. A person wanting some particular thing may worship such and such a demigod. For example, a diseased person is recommended to worship the sun- God; a person wanting education may worship the goddess of learning, Sarasvati; and a person wanting a beautiful wife may worship the goddess Uma, the wife of Lord Siva. In this way there are recommendations in the sastras (Vedic scriptures) for different modes of worship of different

demigods. And because a particular living entity wants to enjoy a particular material facility, the Lord inspires him with a strong desire to achieve that benediction from that particular demigod, and so he successfully receives the benediction. The particular mode of the devotional attitude of the living entity toward a particular type of demigod is also arranged by the Supreme Lord. The demigods cannot infuse the living entities with such an affinity, but because He is the Supreme Lord, or the Supersoul who is present in the hearts of all living entities, Krishna gives impetus to man to worship certain demigods. The demigods are actually different parts of the universal body of the Supreme Lord; therefore, they have no independence. In the Vedic literature it is stated: "The Supreme Personality of Godhead as Supersoul is also present within the heart of the demigod; therefore, He arranges through the demigod to fulfill the desire of the living entity. But both the demigod and the living entity are dependent on the supreme will. They are not independent."

He is the running the whole show, as it were. But more important than the delivery of our desire is faith. More about this faith is mentioned next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में ही आत्मानात्म विवेक (जड़ चेतन का विभाजन) कर के भगवान् श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि किस प्रकार उन में समस्त नाम रूप पिरोये हुए हैं। उस के पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार त्रिगुणात्मिका मायाजनित विकारों से मोहित होकर मनुष्य अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं पहचान पाता। आत्मचैतन्य के बिना शरीर मन और बुद्धि की जड़ उपाधियाँ स्वयं कार्य नहीं कर सकती हैं। जगत् में देखा जाता है कि सभी भक्तजन एक ही रूप में ईश्वर की आराधना नहीं करते। प्रत्येक भक्त अपने इष्ट देवता की पूजा के द्वारा सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि कोई भी भक्त किसी भी स्थान पर मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारा या गिरजाघर में एकान्त में या सार्वजनिक स्थान में किसी भी रूप में ईश्वर की पूजा श्रद्धा के साथ करता है उसकी उस श्रद्धा को उसके इष्ट देवता में मैं ही स्थिर करता हूँ।

ईश्वर के प्रति श्रद्धा और भक्ति के लिए चार प्रकार के भक्त कहे गए है, जिस में आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तीनो की श्रद्धा भक्ति के पीछे कुछ न कुछ कामना जुड़ी रहती है। बचपन से हम अनेक देवी देवताओं की कथाएं और उन के प्रभाव को सुनते आए है, इसलिए परिवार, समाज, जाति और धर्म के अनुसार हम लोगो ने अपने अपने देवताओं को भी बांट रखा है। हमारी श्रद्धा और विश्वास भी उन्ही देवताओं पर होता है। जिन्हे हम अपना कुल देवता या देवी मानते है। इसलिए हमारी श्रद्धा और विश्वास कायम रहे, भगवान का कथन है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वरूप में हम किसी भी देवता या देवी की पूजा करे, वह उसे हो प्राप्त होती है और वह उस का फल भी उसी देवता के माध्यम से श्रद्धा और विश्वास रखने वाले के पास पहुंचा देता है।

जो जो मनुष्य जिस जिस देवता का भक्त होकर श्रद्धापूर्वक यजन पूजन करना चाहता है उस उस मनुष्य की श्रद्धा उस उस देवता के प्रति मैं अचल (दृढ़) कर देता हूँ। वे दूसरों में न लग कर मेरे में ही लग जायँ ऐसा मैं नहीं करता।

सांसारिक अथवा पारमार्थिक सब फलो की सिद्धि में मुख्यता अपनी श्रद्धा की ही है, अपनी श्रद्धा बिना कोई भी देव हम को कुछ भी नही दे सकता। अतः हम मान सकते है श्रद्धा ही मुख्य देव हैं सो मै सर्वात्मा ही उस भक्त के हृदय में उस देव के प्रति श्रद्धा रूप से विराजमान होता हूँ, जिस से वह उस देवता की आराधना करने में समर्थ होता है और वह देवता भी श्रद्धावान भक्त को कुछ देने में समर्थ हो सके।

यद्यपि उन उन देवताओं में लगने से कामना के कारण उन का कल्याण नहीं होता फिर भी मैं उन को उन में लगा देता हूँ तो जो मेरे में श्रद्धा प्रेम रखते हैं अपना कल्याण करना चाहते हैं उन की श्रद्धा को मैं अपने प्रति दृढ़ कैसे नहीं करूँगा अर्थात् अवश्य करूँगा। कारण कि मैं प्राणिमात्र का सुहृद् हूँ।

आध्यात्मदृष्टि से विचार करने पर इस श्लोक का और अधिक गम्भीर अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।मनुष्य जिस विषय का निरन्तर चिन्तन करता रहता है उसमें वह दृढ़ता से आसक्त और स्थित हो जाता है।

अखण्ड चिन्तन से मन में उस विषय के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और फिर उसके अनुसार ही उस मनुष्य की इच्छायें और कर्म होते हैं। इसी नियम के अनुसार सतत आत्मचिन्तन करने से भी मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है।सारांशत भगवान् का कथन हैं कि जैसा हम विचार करते हैं वैसा ही हम बनते हैं। अत यदि कोई व्यक्ति दुर्गुणों का शिकार हो गया हो अथवा अन्य व्यक्ति दैवी गुणों से संपन्न हो तो यह दोनों के भिन्न भिन्न विचारों का ही परिणाम समझना चाहिए। विचार प्रकृति का अंग है विचारों के अनुरूप जगत् होता है जिस का एक अधिष्ठान है सर्वव्यापी आत्मतत्त्व।

इस पर यह शङ्का होती है कि आप सब की श्रद्धा अपने में ही दृढ़ क्यों नहीं करते इस पर भगवान् मानो यह कहते हैं कि अगर मैं सब की श्रद्धा को अपने प्रति दृढ़ करूँ तो मनुष्य जन्म की स्वतन्त्रता सार्थकता ही कहाँ रही तथा मेरी स्वार्थपरता का त्याग कहाँ हुआ अगर लोगों को अपने में ही लगाने का मेरा आग्रह रहे तो यह कोई बड़ी बात नहीं है क्योंकि ऐसा बर्ताव तो दुनिया के सभी स्वार्थी जीवों का स्वाभाविक होता है। अतः मैं इस स्वार्थपरता को मिटा कर ऐसा स्वभाव सिखाना चाहता हूँ कि कोई भी मनुष्य पक्षपात करके दूसरों से केवल अपनी पूजा प्रतिष्ठा करवाने में ही न लगा रहे और किसी को पराधीन न बनाये।

अब दूसरी शङ्का यह होती है कि आप उनकी श्रद्धा को उन देवताओं के प्रति दृढ़ कर देते हैं इस से आप की साधुता तो सिद्ध हो गयी पर उन जीवों का तो आप से विमुख होने से अहित ही हुआ इस का समाधान यह है कि अगर मैं उन की श्रद्धा को दूसरों से हटाकर अपने में लगाने का भाव रखूँगा तो उन की मेरे में अश्रद्धा हो जायगी। परन्तु अगर मैं अपने में लगाने का भाव नहीं रखूँगा और उन को स्वतन्त्रता दूँगा तो उस स्वतन्त्रता को पानेवालों में जो बुद्धिमान् होंगे वे मेरे इस बर्ताव को देखकर मेरी तरफ ही आकृष्ट होंगे। अतः उनके उद्धार का यही तरीका बढ़िया है।

अब तीसरी शङ्का यह होती है कि जब आप स्वयं उनकी श्रद्धा को दूसरोंमें दृढ़ कर देते हैं तो फिर उस श्रद्धा को कोई मिटा ही नहीं सकता। फिर तो उसका पतन ही होता चला जायगा इसका समाधान यह है

कि मैं उनकी श्रद्धा को देवताओं के प्रति ही दृढ़ करता हूँ दूसरों के प्रति नहीं ऐसी बात नहीं है। मैं तो उन की इच्छा के अनुसार ही उनकी श्रद्धाको दृढ़ करता हूँ और अपनी इच्छा को बदलने में मनुष्य स्वतन्त्र है योग्य है। इच्छा को बदलने में वे परवश निर्बल और अयोग्य नहीं हैं। अगर इच्छा को बदलने में वे परवश होते तो फिर मनुष्य जन्म की महिमा ही कहाँ रही और इच्छा (कामना) का त्याग करनेकी आज्ञा भी मैं कैसे दे सकता था।

यहाँ यह भी माना इस जगत में जब परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी नही है तो उस को छोड़ कर कामनाओं एवम अहम के वश में यदि जीव किसी विशिष्ट देवता को पूजता है तो उस की कामना उस के पूर्व जन्म या पूर्व के कर्मो के फल के परिणाम स्वरूप भी हो सकता है।

आसुरी वृति में लगे लोगो का ज्ञान का हरण हो जाता है और कामना, आसक्ति और अहम में लोगो की श्रद्धा भी उनकी श्रद्धा के अनुसार स्थिर हो जाती है, जिस से मोक्ष को प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा उत्पन्न हुए बिना, परमात्मा जीव को प्रकृति के अनुसार जीने की सुविधा देता है।किन्तु उन्हें उन के कर्म के फलों से मुक्त नही करता। जन्म-मरण एवम कर्मो से मुक्ति का एक मात्र उपाय जीव में परमात्मा के प्रति श्रद्धा एवम विश्वास होना चाहिये, न कि उन के किसी स्वरूप के प्रति। सर्व धर्म -सदभाव का अर्थ ही यही है, संकुचित विचारधारा में आप किसी भी धर्म या अपने धर्म के किसी भी मत का पालन करे, वह परमात्मा नही हो सकता, वह उस परमात्मा का स्वरूप होगा। परमात्मा को पाने के लिये श्रद्धा एवम विश्वास उसी पर होने से आप को सभी धर्म, देवी-देवताओं एवम मतों में परब्रह्म ही नजर आएगा, फिर चाहे वह आदिवासी द्वारा वृक्ष के नीचे रखी मूर्ति क्यों न हो, या फिर भव्य इमारत में रखी सुसज्जित मूर्ति क्यो न हो।

अतः जब तक आप की श्रद्धा और विश्वास भक्त प्रह्लाद के अनुसार भगवान के सर्वत्र स्वरूप में न हो, आप को कण कण में भगवान नही दिखेंगे। आप ईश्वर के जिस स्वरूप में श्रद्धा रखते है, वह भगवान भी स्वरूप बदल कर खड़ा हो जाये, तो भी आप उसे स्वीकार नही कर पाएंगे। जिस की तुलना हो या जिस का कोई स्वरूप हो, वह तो सीमित ही होगा, किन्तु परब्रह्म की न तो तुलना की जा सकती है और न ही उस का स्वरूप तय क्या जा सकता है, वह तो सर्वत्र है।

पुनः दोहराने की बात है कि यह बात भगवान श्री कृष्ण मानव अवतार में कह रहे है, जो साक्षात में ब्रह्म स्वरूप है। इसलिए यह बात हमे परब्रह्म के द्वारा कही मानना चाहिए और यह बात सभी देवी देवताओं पर भी उसी भाव से लागू होती है। क्योंकि परब्रह्म प्रत्येक जीव के हृदय में रहता है और कण कण में व्याप्त है। इसलिए हम जिस भी परमात्मा के सगुण स्वरूप को पूजते है, वह ही परब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को प्राप्त होने का माध्यम होता है।

ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास नही टूटना चाहिए। इसलिए चाहे हम किसी भी देवता को पूजे या भौतिक ही इच्छाएं रखे, ईश्वर उस की पूर्ति भक्त की श्रद्धा और विश्वास के अनुसार करता है, जिस से वह आगे चल कर मुक्ति का मार्ग पकड़ सके। कहते है भूखे को ज्ञान की अपेक्षा रोटी की ज्यादा आवश्यकता है। जिस का पेट भरा हो, वही ज्ञान और धर्म को समझने को तैयार होगा। ईश्वर के प्रति भी इसलिए तीन प्रकार के भक्त भी अपनी अपनी कामना के अनुसार श्रद्धा और विश्वास रखते है और ईश्वर उन का मान रखता है।

इस प्रकार कामना, आसक्ति और अहम से किसी एक देवता पर श्रद्धा विराजमान होने से भक्त को क्या मिलता है यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.21।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.22॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

"sa tayā śraddhayā yuktas,
tasyārādhanam īhate..।
labhate ca tataḥ kāmān,
mayaiva vihitān hi tān"..।।

भावार्थ:

वह भक्त सांसारिक सुख की कामनाओं से श्रद्धा से युक्त होकर उन देवी-देवताओं की पूजा-आराधना करता है और उसकी वह कामनायें पूर्ण भी होती है, किन्तु वास्तव में यह सभी इच्छाऍं मेरे द्वारा ही पूरी की जाती हैं। (२२)

Meaning:

Engaged with faith, that person worships that deity, and his desire is fulfilled, but that fulfilment is delivered only through me.

Explanation:

When someone chooses to pursue a finite or a worldly goal, they run towards a finite deity instead of going towards Ishvara. We saw this in the previous shlokas. Shri Krishna continues that point here by saying that Ishvara does not object when devotee seeks a finite goal from a finite deity. In fact, he strengthens that devotee’s faith by delivering what the devotee asks of the deity.

Shree Krishna reiterates in this verse that the celestial gods do not have the capacity to fulfil the material desires of their devotees. They can only grant wishes if God permits it. Labhate means “to obtain.” The devotees with mediocre understanding may think that they have obtained their desired material objects by pleasing the devatas (celestial gods). However, it is not the devatas, but God who facilitates everything.

Faith is a process that most of us do not fully comprehend. But it is a reality. Even in the medical profession, placebos or pills made of inactive ingredients such as sugar are known to cure patients by sheer power of faith.

So, Shri Krishna says that even if a devotee approaches a deity with a finite goal, Ishvara is ready to deliver that goal as long as the devotee's faith in the deity is strong. By fulfilling finite desires through the lower deities, Ishvara hopes that the devotee will learn to further subdue his ego. One cannot have an increase in faith without a decrease in ego.

As desires are sought with greater and greater faith, and the corresponding desires are fulfilled, the devotee's faith increases. This process has the potential to result in the spiritual evolution of that devotee. He will evolve from seeking finite goals to seeking the infinite - Ishvara himself.

This is the ideal state, but it is totally up to the devotee to make that transition. Unfortunately, most devotees get stuck in the pursuit of finite goals, as we shall see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अपने तीन प्रकार के भक्तों आर्त, अर्थार्थी एवम जिज्ञासु के बारे में भगवान अपने सर्वरूपेंण स्थापना को इस श्लोक से बताते है कि सब कुछ मेरे द्वारा ही सिद्ध होता है। भक्तों के हृदय में श्रद्धा और उन की भावनाओ एवम कामनाओं के अनुसार श्रद्धेय देव रूप मैं ही होता हूँ। अतः वे जिस भी रूप में देव अर्चना करते है वो मुझे मिलती है और मैं ही उन्हें फल सिद्धि प्रदान करता हूँ। इधर उन की भावना ही मेरी सत्ता स्फुर्तिसे देव रूप धारती है और उधर उन की भावना ही मेरी सत्ता स्फूर्ति से फलाकार होती है। किंतु अज्ञान वश यह भक्त मेरे द्वारा चेतन सत्ता स्फूर्ति अपने अपने आराध्य देव द्वारा प्रदत्त मान लेते है और मुझ सर्वात्मा से वंचित रह जाते है।

साधारण मनुष्य की समझ मे मोक्ष देने वाला परमात्मा है किंतु यदि सांसारिक सुख सुविधा एवम कष्ट निवारण चाहिये तो उसे विशिष्ट देवी देवताओं की पूजा अर्चना करनी चाहिये। तब वह अपनी सांसारिक कामनाओं के लिये पीपल, बड़, चबूतरा या मंदिर में विशिष्ट देवी देवताओं की पूजा मंत्र, तंत्र, व्रत, उपवास, यज्ञ, भजन, कीर्तन एवम सामूहिक प्रवचन आदि करने लग जाता है। भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना से जो भी फल मिलता है, उसे आराधक समझते है उस को देने वाला वो ही विशिष्ट देवी देवता ही है। जब कि वो भूल जाता है कि कर्म फल से अनुसार मैं ही उस मे श्रद्धा से ले कर आराधना एवम देवी देवताओं से प्रदान फल देने वाला हूँ। क्योंकि अपरा एवम परा प्रकृति में मेरे सिवाय कुछ भी नही है।

जैसे सरकारी अफसरों को एक सीमित अधिकार दिया जाता है कि तुम लोग अमुक विभाग में अमुक अवसर पर इतना खर्च कर सकते हो इतना इनाम दे सकते हो। ऐसे ही देवताओं में एक सीमा तक ही

देने की शक्ति होती है अतः वे उतना ही दे सकते हैं अधिक नहीं। देवताओं में अधिक से अधिक इतनी शक्ति होती है कि वे अपने अपने उपासकों को अपने अपने लोकों में ले जा सकते हैं। परन्तु अपनी उपासना का फल भोगने पर उन को वहाँ से लौटकर पुनः संसार में आना पड़ता है। जिस प्रकार अधिकार मनोवांछित सम्मान या भेंट न मिलने पर रुष्ट हो कर काम को बिगाड़ सकते है, वैसे ही सीमित अधिकारों वाले देवता का भी पूजा - अर्चना में त्रुटि होने पर रुष्ट होने का डर बना रहता है।

मेरे द्वारा स्थिर की हुई उस श्रद्धा से युक्त हुआ वह उसी देवता के स्वरूप की सेवा पूजा करने में तत्पर होता है। और उस आराधित देवविग्रह से कर्मफल विभाग के जानने वाले मुझ सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा निश्चित किये हुए इष्ट भोगों को प्राप्त करता है। वे भोग परमेश्वर द्वारा निश्चित किये होते हैं इसलिये वह उन्हें अवश्य पाता है यह अभिप्राय है। यहाँ पर यदि हितान् ऐसा पदच्छेद करें तो भोगों मे जो हितत्व है उस को औपचारिक समझना चाहिये क्योंकि वास्तव में भोग किसी के लिये भी हितकर नहीं हो सकते।

कामना-आसक्ति और अहम में क्षणिक सुख की लालसा में मूल तत्व श्रद्धा और विश्वास है कि यह हमें जिस पर विश्वास करते है, वह प्राप्त करा देगा। यह विश्वास व्यक्ति, धर्मगुरु, मजहब, धार्मिक पुस्तकों एवम कथित नियमो और कर्मकांडो पर हो सकता है और इतना सशक्त भी हो जाता है, जो हमे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, हत्या और अपने को श्रेष्ठ स्थापित करने की आसुरी वृति में ने ढकेल सकता है। परमात्मा सात्विक वृति के श्रद्धा एवम विश्वास तक ही अपने को सीमित करता है और आसुरी वृति के श्रद्धा और विश्वास करने वाले तामसी गुणों वाले जीव का ज्ञान भी हरण कर लेता है, जिस से वह अपने कर्मों के फल को प्राप्त हो कर जन्म-मरण के दुख को भोगते है।

जिस की सीमा या उद्गम हो, उस का क्षय भी होना निश्चित है। इसलिये काल के सब अधीन है। जो कालातीत है, जो काल का भी रचियता है, एक जिस से सब है और वह सब से नही है, वही परब्रह्म ही एकमेव है, जिस में जीव का विलीन होना मुक्ति है। अतः सात्विक श्रद्धा एवम विश्वास से जो जिस देवता की पूजा और आराधना करता है, उसे यह भी समझना चाहिए कि इन सब को कामना पूर्ति करने का अधिकार भी उस एकमेव परब्रह्म से प्राप्त है। वह ही उस देवता, गुरु, कर्म कांड से उस को उस की कामना के अनुसार कर्मफल के अनुसार प्रदान करता है। वेद और वेदान्त सभी यही मानते है श्रद्धा एवम विश्वास से चाहे किसी भी देवी-देवता की आराधना करी जाए। कालांतर में इस से बुद्धि स्थिर एवम शुद्ध होने लगती है और वह अपनी अनित्य कामनाओं को छोड़ कर परब्रह्म की शरण मे चला जाता है।

अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को कुछ लोग योग भी कहते है और वेदांती लोग इसे माया भी मानते है। इस प्रकार से फलो को प्राप्त करने से भक्त को क्या लाभ या हानि होती है यह हम अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 7. 22।।

।।देवता और श्रद्धा-विश्वास।। विशेष - 7.22 ।।

परब्रह्म अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, अदृश्य और अकर्ता है। जब की उस से संकल्प से रचित सृष्टि सगुण - निर्गुण, व्यक्त - अव्यक्त, निराकार - साकार होने के साथ निरंतर क्रियाशील है। इसलिए इस में सभी

जीव प्रकृति की माया से मुक्त हो कर अपने ब्रह्म स्वरूप को नही जानते। अतः आज के युग मे यदि ईश्वर के भक्त है, तो इन प्रथम तीन ही प्रकार के ही है। सुबह से शाम तक की दिनचर्या सामाजिक, व्यावसायिक, पारिवारिक एवम शारीरिक अधिक और आध्यात्मिक काम हो कर रह गयी। अध्यात्म भी माया में व्यवसाय या जीवन भरण का साधन हो गया है। इसलिए अधिकांश मनुष्य अपनी पूजा या पाठ या ईश्वर की आराधना की विशिष्ट लाभ या कष्ट के निवारण के लिए करता है। इस के वह अपनी कल्पना शक्ति से उस देवता या देवी को ध्यान लगाता है जिस की शक्ति उस की कामना को पूर्ण करने योग्य होती है। क्योंकि यह देवता या देवी जीव की अपनी उपज है जो ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ विभिन्न रूपों में परिवर्तित और उन्नत होते गए और देवता प्रकृति से ले कर अपरा और परा प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में स्थापित हो गए। अतः ईश्वर भी हम अपनी आवश्यकताओं के इर्द गिर्द ही तलाश करते है। इसलिये योगी होना लगभग आत्मा से सम्मानित है किंतु योगी कोई होना नही चाहता।

हम अपनी आवश्यकताओ के अनुसार विशिष्ट मत, विश्वास, धार्मिक पुस्तकों, गुरु, देवताओं आदि को मानते है। यह विश्वास ही है वेद भगवान की वाणी है और कुरान अल्लाह द्वारा रचित है। आसमान से कोई पुस्तक उतरी होगी या देवता ने धरती पर आ कर वेद का ज्ञान दिया होगा, सभी कल्पना और मानव रचित उन्नत और निम्न रचनाएं ही है।किंतु **जिस की जितनी श्रद्धा और विश्वास जिस बात पर अधिक होगा, उसे वही एकमेव सत्य प्रतीत होता है। श्रद्धा और विश्वास के अंदर पर हम कभी वास्तविक तथ्यों को भी स्वीकार नही करते और अपने अंदर एक आत्मविश्वास जगाए रखते है।** किंतु जो भी काल के अधीन है, वह प्रकृति के तीन गुणों से बाहर नही हो सकता। इसलिये श्रद्धा-विश्वास जब विवेक से परे हो जाता है तो उस का फायदा धर्म गुरु उन्मादी बना कर स्वहित या अपने अहंकार के करते है। फिर यह गुरुधर्मिक वेशभूषा में हो या सामाजिक नेतृत्व की। इन का अनुशरण करने वाला इन की आसक्ति और कामना का ही दास हो जाता है।

इतिहास परमात्मा के नाम पर गुमराह करने वालो के नामो से भरा पड़ा है और अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये नेतृत्व करने वाले अत्याचारियों से भी। इन के नामो का यहाँ उल्लेख करना का कोई औचित्य नही। किन्तु यहां भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को सावधान करते है कि अज्ञानी लोग नही जानते कि जिस कामना और आसक्ति की पूर्ति के लिये वह विशिष्ट देवी, देवता की आराधना करते है, उसे वह ही उन की कामना पूर्ति के अधिकार इसी उद्देश्य से देते है, कि सात्विक एवम रज भाव रखते हुए, जीव अपने उच्चतर स्तर को प्राप्त करे। इसलिये अपने आत्म विश्वास को सात्विक बनाये रखना भी जीव का कर्तव्य है।

भगवान श्री कृष्ण द्वारा स्पष्ट घोषणा है कि संपूर्ण सृष्टि का सूत्रधार केवल एक मात्र परब्रह्म है, जो प्रकृति और माया से यह खेल खेलता है। जीव ब्रह्म का ही अंश है किंतु अज्ञान में वह अपने शरीर को ही सत्य समझता हुआ, कर्ता और भोक्ता मानता है।

अतः अज्ञान में ही सही, जीव का ब्रह्म उसे अपने स्वरूप का अहसास दिलाता रहता है और वह जानता है कि इस संसार में सभी क्रियाएं अपनी नियमित गति से कार्य करती है किंतु प्राकृतिक और आध्यात्मिक आनंद के लिए उस का विश्वास और श्रद्धा अपने अपने देवी देवताओं पर बना रहता है।

गीता का यह अध्याय इसी ज्ञान को अत्यंत व्यावहारीक तरीके से प्रस्तुत कर रहा है। भगवान अपने सर्वव्यापी होने की घोषणा के साथ मनुष्य को उन की कामनाओं के साथ उन द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं के रूप में भी उन की नाशवान कामनाओं की पूर्ति करते है।

एक छोटे बच्चे को अपने माँ बाप पर पूरा विस्वास एवम श्रद्धा होती है। इस लिये वो जिद कर के वो भी वस्तु मांगता है जो उस के लिये उपयोगी या लाभ दायक नही है। किंतु पिता उस के विस्वास को कायम रखने के लिये उस की जिद को भी इसी विस्वास के साथ पूरा करता है कि उस के विस्वास एवम श्रद्धा बना रहे। क्योंकि वो सोचता है यदि श्रद्धा एवम विस्वास बना रहा तो एक न एक दिन वो सही बात को समझ जाएगा।

परमात्मा भी पिता समान ही होता है इसलिये अहम एवम कामनाओं में डूबे इस जीव की इच्छा पूर्ति के लिये उस की श्रद्धा देवता में स्थित करते हुए उस की मनोकामना भी पूर्ण करता है। क्योंकि उस को लगता है कि यही श्रद्धा एवम विस्वास इस मोह ग्रस्त जीव को अहम एवम कामना से अलग कर के, तत्वविद बनाएगी। जीव को निष्काम हो कर योगारूढ़ करने के लिये परमात्मा, उस की कामना और आसक्ति को एक दम से नही नकारता किन्तु कर्मफल के माध्यम से उस को तत्वविद होने को कहता है।

यह मनोकामना जीव के द्वारा पूजे जाने वाले देवी देवता के सामर्थ्य के अनुसार, उन्ही के हाथो ही क्यों पूरी की जाती है तो इस का कारण है कि विश्वास पारिवारिक, सामाजिक और परिस्थितियों के उत्पन्न अवस्था है। इसलिए श्रद्धा, विश्वास और प्रेम उसी से उत्पन्न होता है। यदि उस को किसी अन्य की ओर धकेला जाए तो वहां श्रद्धा और विश्वास का अभाव और मजबूरी ज्यादा होगी। परिवार में बच्चे जिस हक से अपने माता और पिता से कुछ मांगते है, वह अन्य से नही मांगते। फिर चाहे मां - पिता किसी ओर से वह प्राप्त करे। यही इष्ट देव या कुल देवता के प्रति किसी की भी श्रद्धा और विश्वास होता है। इसलिए उस देवता या देवी के माध्यम से कामना या इच्छा ही सही, उस की आपूर्ति कर के परमात्मा उस की श्रद्धा और विश्वास को टूटने नही देता। श्रद्धा, विश्वास और प्रेम सत्व के गुण है, इसलिए जीव में यदि बने रहे तो वह कभी भी कामना और आसक्ति से मुक्ति पा कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष का मार्ग भी चुन लेगा।

अब भी यदि कोई जीव परमात्मा के प्रेम को न समझे एवम कर्म बंधन का रास्ता ही चुने तो भी परमात्मा उसे प्रकृति द्वारा विभिन्न कर्मो के फलो के परिणामो से गुजारता हुआ, मुक्ति का द्वारा उस के बंद नहीं करता। हम योगी की बजाय भोगी ही बने रहना चाहते है, हमे सुख इन सांसारिक वस्तुओं में खोजना ही अपनी मजबूरी लगता है क्योंकि तत्व ज्ञान को हम पढ़ते अवश्य है किंतु आत्मसात नही कर पाते। प्रकृति के कर्म बंधन में निष्काम होना नही चाहते। इन्ही बातों को यह अध्याय अत्यंत सुंदर तरीके है, एक एक श्लोक के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा है। यह भी उस परमात्मा की कृपा है। क्योंकि उस की प्रेरणा के बिना कौन उस को सुन या पढ़ सकता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 7.22 ।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.23॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

"antavat tu phalaṁ teṣāṁ,
tad bhavaty alpa-medhasām.. l
devān deva-yajo yānti,
mad-bhaktā yānti mām api".. l l

भावार्थ:

परन्तु उन अल्प-बुद्धि वालों को प्राप्त वह फल क्षणिक होता है और भोगने के बाद समाप्त हो जाता हैं, देवताओं को पूजने वाले देवलोक को प्राप्त होते हैं किन्तु मेरे भक्त अन्ततः मेरे परम-धाम को ही प्राप्त होते हैं। (२३)

Meaning:

But those with finite intellect obtain a perishable result. Worshippers of deities obtain those deities, (and) my devotees obtain me alone.

Explanation:

We saw that there were two kinds of devotees - those who pursue finite goals and those who pursue the infinite. Earlier, Shri Krishna said that there was nothing wrong with pursuing finite goals as long as such devotees eventually involve towards pursuing the infinite.

Some commentators on the Bhagavad-gita say that one who worships a demigod can reach the Supreme Lord, but here it is clearly stated that the worshipers of demigods go to the different planetary systems where various demigods are situated, just as a worshiper of the sun achieves the sun or a worshiper of the demigod of the moon achieves the moon. Similarly, if anyone wants to worship a demigod like Indra, he can attain that particular god's planet. It is not that everyone, regardless of whatever demigod is worshiped, will reach the Supreme Personality of Godhead. That is denied here, for it is clearly stated that the worshipers of demigods go to different planets in the material world, but the devotee of the Supreme Lord goes directly to the supreme planet of the Personality of Godhead.

Why do most devotees contact a deity, someone or something that is higher than them? It is to acquire or obtain a goal that will relieve them of their

finitude. Let's say they worship a deity and manage to obtain the object that they desire. Shri Krishna says that no matter what object is acquired, it will perish at some point. In other words, that object will be time- bound or space- bound. It will make the person happy for a short amount of time, after which he will begin to feel finite and consequently unhappy. The cycle of seeking another finite goal will start all over again.

Devotees who do not see the folly of repeatedly acquiring finite things are termed "alpa- medhasaa" or finite- minded by Shri Krishna. They will never be free of sorrow but will manage to suppress it temporarily. They are deprived of the knowledge which indicates the true nature of Ishvara. That is why we should never stop enquiring into the reality of things and try to look beyond the material world for the real answers to our problems.

Shri Krishna goes on to say that those who worship deities may eventually obtain the favour of the deity, who will shower them with his grace. Though commendable, this outcome will still be futile, because the deity is still a finite entity. Only those who seek the infinite Ishvara will gain infinitude by which their sense of finitude or incompleteness will be taken care of once and for all.

Why other God are able to fulfil infinite desire, because according to the scripture, all the Gods in heaven are none other than the ordinary jīvās only; who have got the exalted position because of their puṇya karma. Even yama dharma rāja is a post; you can become yama dharma rāja; already you might be yama. Similarly, you can become Indra; you can become anyone; it is a finite post, even Brahmāji is a finite dēvathā post. You can become; and even that Brahmāji will have to vacate that post; there will be a last day; he will have to get down.

Further, here Me means Shri Krishna does not represent infinite Krishna śarīram; Krishna's śarīram is finite or Krishna's body is finite; therefore, going to Krishna is attainment of the infinite represented by finite śarīram; Krishna's body symbolises the infinite brahman. Whatever, Demi God you worship, only Braham is infinite and other than Braham is finite.

So then, there has to be reason why most people do not seek infinitude. This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व अध्याय में श्री कृष्ण में कहा कि तुम इस यज्ञ द्वारा देवी सम्पद की उन्नति करो। उन्नति करते करते परमश्रेय को प्राप्त कर लो। देवी सम्पद मोक्ष के लिये है। देवता हृदय के अंतराल में परम देव परमात्मा को अर्जित करने का सदगुण का नाम है जिसे कालांतर में बाहर का रूप दे कर मूर्तिया, कर्मकांड आदि में बदल दिया गया। इसलिये भगवान स्पष्ट घोषणा करते है कि कोई देवी देवता नहीं होता, वहां मैं ही होता हूँ और मैं ही श्रद्धा एवम विस्वास को कायम रखने के लिये नाशवान फल भी देता हूँ। इसलिये जब फल नष्ट होता है तो उस देवी देवता के प्रति विस्वास भी नष्ट होता है क्योंकि हमारी कामना एवम अहम पर श्रद्धा एवम विस्वास है, न कि उस देवी देवता के प्रति जिस को हम प्रतीक बना कर पूजा करते है। अतः जो नाशवान है वो शाश्वत हो नहीं सकता। इसलिये देवी देवता से प्राप्त फल भी नाशवान होता है । यही कर्मो का बंधन है जिस से प्रत्येक मनुष्य को मुक्त होना है।

मनुष्य अज्ञान के कारण यह जानते हुए भी कि समस्त देवी देवताओं की आराधना का स्वरूप मैं ही हूँ एवम मैं ही उन्हें उन की कामना की वस्तु प्रदान करता हूँ। मनुष्य यह भी भूल जाता है और अपनी कामना में उलझ जाता है एवम देवी देवताओ से प्रदत वस्तु अनित्य होने से उन का सुख स्थायी नही होता और फिर इस कारण सुख भोग कर दुःखो को भोगता है। सांसारिक सुखों के भोगने से उस की शक्ति का ही ह्रास होता है। भगवान इन लोगो को इसी अज्ञान के कारण अल्पज्ञानी भी बोलते है, क्योंकि सद्भाव रखते हुए भी अहम एवम कामना के कारण यह लोग परमात्मा के परमतत्व को न पहचान कर नाशवान वस्तुओं की प्राप्ति की कामना में लगे रहते है, जिस के स्थायी न होने के कारण क्षणिक सुख भोग कर दुख को प्राप्त होते है। सांसारिक सुख से संतुष्टि भी नही मिलती और इस से कामना ही अधिक बलवती होती जाती है और मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है।

संसार में जैसा विज्ञापनों में अक्सर देखने को मिलता है कि वस्तु के गुण अधिक से अधिक बताते हुए, जो नही भी है, वे गुण भी बता कर लोगो को आकर्षित किया जाता है और उस की बुराइयों को इतना छोटा और बेढंगे तरीके से प्रस्तुत किया जाता है, जिसे कोई समझ भी न सके। अक्सर ज्योतिषी, प्रवक्ता और स्वामी लोग अपना प्रचार करते हुए छोटे छोटे टोटके बताते है, जिस से आप की सांसारिक कामनाओं की पूर्ति हो सके। यह सब इन सभी सीमित देवी देवताओं का प्रचार ही है। इसलिए अविवेकी और लोभी जीव इस में फस कर दुख भोगता है।

वे कामी और अविवेकी पुरुष विनाशशील साधन की चेष्टा करनेवाले होते हैं इसलिये उन अल्पबुद्धिवालों का वह फल नाशवान् विनाशशील होता है। देवयाजी अर्थात् जो देवों का पूजन करनेवाले हैं वे देवों को पाते हैं और मेरे भक्त मुझ को ही पाते हैं। बड़े दुःख की बात है कि इस प्रकार समान परिश्रम होने पर भी लोग अनन्त फल की प्राप्ति के लिये केवल मुझ परमेश्वर की ही शरणमें नहीं आते।

भगवान् के द्वारा विधान किया हुआ फल तो नित्य ही होना चाहिये फिर उनको अनित्य फल क्यों मिलता है इसका समाधान यह है कि एक तो उनमें नाशवान् पदार्थों की कामना है और दूसरी बात वे देवताओं को भगवान् से अलग मानते हैं। इसलिये उन को नाशवान् फल मिलता है। परन्तु उन को दो उपायों से अविनाशी फल मिल सकता है एक तो वे कामना न रखकर (निष्कामभाव से) देवताओं की उपासना करें तो उन को अविनाशी फल मिल जायगा और दूसरा वे देवताओं को भगवान् से भिन्न न समझ कर

अर्थात् भगवत्स्वरूप ही समझ कर उन की उपासना करें तो यदि कामना रह भी जायगी तो भी समय पाकर उन को अविनाशी फल मिल सकता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो सकती है। यहाँ कहने का तात्पर्य है कि फल तो मेरा विधान किया हुआ ही मिलता है पर कामना होने से वह नाशवान् हो जाता है।

यहां कृष्ण भी नाशवान शरीर के साथ प्रकट है, उसी प्रकार अन्य देवी देवता ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इंद्र, यम आदि भी है। यह सब परब्रह्म से ही उत्पन्न अपने श्रेष्ठ गुणों से है किंतु सृष्टि के प्रलय के साथ ही समाप्त होने वाले है। जीव यदि गुणातित हो कर माया को नियंत्रित करता है तो देवता और प्रकृति के गुणों में रहता हुआ माया से नियंत्रित रहता है तो जीव कहलाता है। अतः प्रकृति के देवता भी जीव ही है। इसलिए मनुष्य भी अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से देवता हो सकता है, किंतु वह देवता नित्य नही होगा। इसलिए जो स्वयं नित्य नही है, वह नित्य का आर्शीवाद या मार्ग कैसे बता सकता है।

क्योंकि इस जगत में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नही। इस का प्रतिपादन वेदांत सूत्र एवम उपनिषद भी करते है। इसलिये भिन्न भिन्न देवताओं की भक्ति करते करते बुद्धि स्थिर और शुद्ध होने लग जाती है और फिर अंत मे एक मात्र नित्य परमात्मा का ज्ञान एवम ध्यान होने लगता है। यही एक मात्र उद्देश्य भिन्न भिन्न देवी देवताओं एवम धर्मो की उपासना पद्धिति का उपयोग है। इसलिये भगवान कहते है कि प्रत्येक भक्त को अपने अपने देवी देवताओं से जो भी फल मिलता है वो अनित्य ही है, उन फलो की आशा में न उलझ कर ज्ञानी भक्त होने की उमंग कायम रखनी चाहिए। क्योंकि यह भक्ति की उमंग ही उसे ज्ञान मार्ग पर ले कर जाएगी। यह ठीक है कि भगवान सब कुछ करने वाले एवम सब चीजों के दाता है, तो भी जिस के जैसे कर्म होते है वो उस के फल कर्मानुसार भोगता ही है। परमात्मा सभी वस्तुओं का कर्ता होते हुए भी अकर्ता ही है। वो कर्मो के फल भोगने वाले हर प्राणी का साक्षी मात्र ही है। इसलिये यदि कोई किसी विशिष्ट देवी देवताओं की आराधना कर के कुछ प्राप्त करना चाहता है या कामना एवम अहम में किसी कर्म को करने लग जाता है तो यह उस का कर्म बंधन का ही क्रम है। उसे ही इस को त्याग कर निष्काम होना है। उसे याद रखना चाहिये कि देवी देवताओं की आराधना से सकाम फल अनित्य या नाशवान है।

अतः यह स्पष्ट है मुक्ति या मोक्ष का वास्तविक अर्थ जीव का परब्रह्म में विलीन होना है, इसलिये इस के अतिरिक्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवम चेतन से हम जो भी पूजा, अर्चना, यज्ञ, ध्यान , दान, भजन -कीर्तन आदि करते है यदि वह किसी भी कामना, आसक्ति या अहम से प्रेरित हो तो परमात्मा हमे वह प्रदान करता है, किन्तु नित्य नही होने से उस का प्रभाव सीमित रहता है और वह उस के अनुसार सुख भोग कर वापस मृत्यु लोक में आ जाता है। यह सुख भोग की कामना पृथ्वी को छोड़ कर स्वर्ग, पितृलोक, चन्द्रलोक या वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक भी हो सकता है। परमात्मा की यह रचना सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और परब्रह्म का ही स्वरूप है। परमात्मा कहते है यह सारे ब्रह्मांड में मैं ही हूँ किन्तु यह ब्रह्मांड परब्रह्म नही है। इसलिये सात्विक ज्ञान, पूजा, समर्पण, स्मरण, दान-तीर्थ आदि क्षणिक सुख के साधन है, यह सीढ़ी है, ब्रह्मविद होने के लिये, इसलिये परब्रह्म से पोषित है, किन्तु कामना के साथ समर्पण करने से इस का उद्देश्य ही बदल जाता है।

अतः यह स्पष्ट है जब तक हम पूजा पाठ परब्रह्म को प्राप्ति के लिये नही करते, तो कामना चाहे कैसी हो, अंततः व्यापार है, लेनदेन ही है। आप पूजा करते है, जिस देवता से जो मांगते है, वह आप को देता है और समय पूरा होने पर वापस ले लेता है। इसलिये कामना- आसक्ति के साथ पूजा करने वालो को

अल्पबुद्धि कहा गया है, क्योंकि जिस मार्ग से मुक्ति या मोक्ष मिल सकता है, वहां सुख की कामना या याचना करना, ठीक वैसा है, जैसा हीरे की खान से पत्थर उठा कर लाना।

यह मेरा निजी विचार और अनुभव है कि स्वार्थ, लोभ, जीवन के संघर्ष, सुख की लालसा, सीमित साधन और असंतुष्टि व्यक्ति को अतिभौतिक जीव बना देती है। 84 लाख योनियों के गुजर कर मिला मनुष्य शरीर सांसारिक सुखों के प्रति लालायित रहता है और मोक्ष की बाते या ज्ञान सरदर्द या अवांछित एवम समय खराब करने वाला विषय बन कर रह जाता है। मोक्ष की कामना अवश्य सभी में रहती है, किंतु सभी को यह भी बाबा जी का प्रसाद को भांति बिना कुछ चाहिए। लाखो में कोई एक इस राह पर चलने वाला होता है, शेष यदि सन्यास या वैराग्य अपना भी ले, तो वह भी व्यवसायिक या कामना और अहम से परिपूर्ण होता है।

भगवान द्वारा अपने विभिन्न प्रकार के भक्तों का वर्णन करने के बाद हम आगे पढ़ेंगे कि क्यों इतना सब कुछ जानने के बाद भी सर्व सदाहरण लोग ईश्वर की शरण को प्राप्त नही होते।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.23।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ 7.24॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

"avyaktaḿ vyaktim āpannaḿ,
manyante mām abuddhayaḥ.. l
paraḿ bhāvam ajānanto,
mamāvyayam anuttamam"..।।

भावार्थ:

बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अप्रकट परमात्मा को मनुष्य की तरह जन्म लेने वाला समझते हैं इसलिय वह मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी स्वरूप के परम-प्रभाव को नही समझ पाते हैं। (२४)

Meaning:

The unintelligent, not knowing my unmanifest, supreme, incomparable and imperishable nature, believe that I assume a human form.

Explanation:

“To one that holds a hammer, everything looks like a nail”. When we get used to a certain mode of thinking or behaving, it becomes a disadvantage because that mode of thinking begins to limit our perspective. We spend all of our waking life taking in information from the sense organs - the eyes, ears, nose,

tongue and skin. Due to this constant exposure, we tend to perceive everything in terms of these 5 senses. Ultimately, these senses limit what we can perceive.

Shri Krishna, having described the finite goal- seeking mindset of most people, now clearly articulates the problem that they face. Limited by their finite intellect, limited by the prison of the 5 senses, people tend to view Ishvara as a finite entity. As if this is not unfortunate enough, they get so attached to their favourite deity that **they sometimes begin to develop a fanatic attitude - "my god is better than your god"** and so on. People often vehemently debate upon the Supreme Lord being a formless God, while the others claim He exists in His personal form. The true Ishvara is beyond all senses. Neither the mind nor our speech can reach it. Ishvara is beyond all names and forms.

Shree Krishna resolves this debate by stating that God exists in the spiritual realm eternally in His divine form. The ignorant do not understand the magnificent and imperishable nature of His personal form. The divine personality of God has not manifested from the formless Brahman; it is primordial. The divine light that emanates from His transcendental body is the formless Brahman.

But many of us go to temples to worship deities. Even spiritual masters worship deities. How should we understand this? It is because deities in a temple are indicators or pointers to the infinite. An idol in the shape of a deity helps us focus our attention on the form of the deity. But this focusing of attention on the finite deity is a stepping stone to contemplating the true nature of Ishvara, which is infinite, imperishable, and supreme.

"The light that emanates from the toenails of God's personality is worshipped as the Brahman by the jñānīs."

Therefore, there is no difference between the two forms. Neither of them is superior or inferior. In God's personal form, His name, form, virtues, abode, pastimes, associates, etc., manifest as an extension of His divine energy. However, in the formless Brahman, even though all the divine potencies and energies exist, they are in a concealed form.

What is the real reason for the problem pointed out here? Why do most people think of Ishvara in finite terms? This is examined next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यह श्लोक भगवान को अव्यक्त स्वरूप को समझने के लिये महत्वपूर्ण है जिस से आगे की गीता समझ में आ सके। परब्रह्म को अव्यक्त, अतिसूक्ष्म, निराकार, नित्य और दृष्टा आदि आदि कहा गया है, फिर भी जब स्वरूप को शब्दो से वर्णन न किए जाने के कारण नेति नेति कहा है।

भगवान के गुण, प्रभाव, नाम, स्वरूप और लीला आदि पर जिन का विश्वास नही है तथा जिन की मोहवृत और विषय विमोहित बुद्धि तर्क जालो से समाच्छन्न है, वे मनुष्य बुद्धिहीन है। उन लोगो की बुद्धि में यह बात आती ही नही कि समस्त जगत भगवान की ही **द्विविध प्रकृति** का विस्तार है और उन दोनों प्रकृति के परमाधार होने से भगवान ही सब से उत्तम है। उन के अचिन्त्य और अकथनीय स्वरूप , स्वभाव, महत्व तथा अप्रितम गुण मन एवम वाणी के द्वारा यथार्थ रूप में समझे और कहे नहीं जा सकते।

बुद्धिहीन होने का अर्थ मूर्ख या अज्ञानी होना नही है, यह लोग अपर्याप्त जानकार होते है किन्तु विषय के केंद्र बिंदु से हट कर उस के चारो और देखते या विचार करते है। उदाहरण के तौर पर, TV में अक्सर बहस पर उतरे लोग सिर्फ अपनी बात या अपनी पार्टी को सत्य सिद्ध करने में लगे रहते है, उन्हें विषय या विषय के बारे में अपने प्रतिद्वंदी द्वारा बोले किसी बात से कोई अर्थ या मतलब नही। इस का अर्थ यह नही है कि वह जानकार नही है, किन्तु अपने मतों, स्वार्थ, कामना, आसक्ति लोभ में स्वीकार नही करते, और समझ कर भी समझने को तैयार नही होते।

उन में बुद्धि का अभाव है प्रत्युत बुद्धि में विवेक रहते हुए भी अर्थात् संसार को उत्पत्ति- विनाशशील जानते हुए भी इसे मानते नहीं यही उन में बुद्धिरहितपना है और मूढ़ता है। दूसरा भाव यह है कि कामना को कोई रख नहीं सकता कामना रह नहीं सकती क्योंकि कामना पहले नहीं थी और कामना पूर्ति के बाद भी कामना नहीं रहेगी। वास्तव में कामना की सत्ता ही नहीं है फिर भी उस का त्याग नहीं कर सकते यही अबुद्धिपना है। मेरे स्वरूप को न जानने से ये लोग अन्य देवताओं की उपासना में लग गये और उत्पत्ति विनाशशील पदार्थों की कामना में लग जाने से ये बुद्धिहीन मनुष्य मेरे से विमुख हो गये। यद्यपि ये मेरे से अलग नहीं हो सकते तथा मैं भी उनसे अलग नहीं हो सकता तथापि कामना के कारण ज्ञान ढक जाने से ये देवताओं की तरफ खिंच जाते हैं। अगर ये मेरे को जान जाते तो फिर केवल मेरा ही भजन करते।

(1) बुद्धिमान् मनुष्य वे होते हैं जो भगवान् अर्थात उस के अव्यक्त स्वरूप में परब्रह्म के शरण होते हैं। वे भगवान् को ही सर्वोपरि मानते हैं।

(2) अल्पमेधावाले मनुष्य वे होते हैं जो देवताओं के शरण होते हैं। वे देवताओं को अपने से बड़ा मानते हैं जिस से उन में थोड़ी नम्रता व सरलता रहती है।

(3) अबुद्धिवाले मनुष्य वे होते हैं जो भगवान् को देवता जैसा भी नहीं मानते किन्तु साधारण मनुष्य जैसा ही मानते हैं। वे अपने को ही सर्वोपरि सब से बड़ा मानते हैं

पृथ्वी जल तेज आदि जो महाभूत हैं जो कि विनाशी और विकारी हैं वे भी दो दो तरह के होते हैं स्थूल और सूक्ष्म। जैसे स्थूलरूप से पृथ्वी साकार है और परमाणुरूप से निराकार है जल बर्फ बूँदें बादल और

भापरूप से साकार है और परमाणुरूप से निराकार है तेज (अग्नितत्त्व) काठ और दियासलाई में रहता हुआ निराकार है और प्रज्वलित होने से साकार है इत्यादि। इस तरह से भौतिक सृष्टि के भी दोनों रूप होते हैं और दोनों होते हुए भी वास्तव में वह दो नहीं होती। साकार होने पर निराकार में कोई बाधा नहीं लगती और निराकार होने पर साकार में कोई बाधा नहीं लगती। फिर परमात्मा के साकार और निराकार दोनों होने में क्या बाधा है अर्थात् कोई बाधा नहीं। वे साकार भी हैं और निराकार भी हैं सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। गीता साकार - निराकार, सगुण - निर्गुण, व्यक्त - अव्यक्त सभी को मानती है।

नवें अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान् ने अपने को अव्यक्तमूर्ति कहा है। चौथे अध्याय के छठे श्लोक में भगवान् ने कहा है कि मैं अज होता हुआ भी प्रकट होता हूँ अविनाशी होता हुआ भी अन्तर्धान हो जाता हूँ और सब का ईश्वर होता हुआ भी आज्ञापालक (पुत्र और शिष्य) बन जाता हूँ। अतः निराकार होते हुए साकार होने में और साकार होते हुए निराकार होने में भगवान् में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता। ऐसे भगवान् के स्वरूप को न जानने के कारण लोग उनके विषय में तरह तरह की कल्पनाएँ किया करते हैं।

अव्यक्त रूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते है। वेदांती लोग इसे माया कहते है और इस योगमाया से ढका हुआ परमेश्वर व्यक्त स्वरूप धारी होता है। इसलिये व्यक्त सृष्टि मायिक अथवा अनित्य है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा इस नित्य है। कुछ लोग इस माया शक्ति अर्थात भगवान के व्यक्त स्वरूप को ही नित्य मानते है क्योंकि उन के अनुसार माया नित्य है। इसलिए कभी भी परमात्मा अवतार लेता है तो प्रकृति के नियमों अर्थात जन्म, बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़ , वृद्ध होता हुआ अपने कर्म करता है, फिर वह भी शरीर त्याग देता है, किंतु उस के कर्म वा अवतार दिव्य होता है। इसलिए जो बुद्धिमान नही होते, वे उसे साधारण मनुष्य ही मानते है।

अद्वेत वेदांत के अनुसार भी माया परमेश्वर की ही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योंकि माया यद्यपि इंद्रियाओ का उत्पन्न किया हुआ है, तथापि इंद्रियां भी परमेश्वर की सत्ता से ही काम करती है। , अतएव अंत मे इस माया को परमेश्वर की ही लीला कहना पड़ता है। जिस नाम रूपात्मक माया से अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया- फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या कुछ कहो, अज्ञान से उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या मोह है और सत्य परमेश्वर तत्व इस से पृथक है। माया सत्य नही है, सत्य है एक परमेश्वर ही है।

सरल भाषा मे हम कह सकते है कि किसी भी कंपनी में आफिसर या डायरेक्टर कंपनी संचालन का व्यक्त रूप है जब कि कंपनी का संचालन शेयरहोल्डर करते है किंतु वो अव्यक्त रूप है। मॉल में काउंटर सेल, फिर मॉल मैनेजर, फिर सभी मॉल को नियंत्रित करने वाला मुख्य कार्यालय और फिर उस कंपनी के मालिक। यह मालिक उस मॉल के संचालन का अव्यक्त रूप है।

परमात्मा के व्यक्त स्वरूप से श्रद्धा और विश्वास की शुरुवात सगुणाकार से निर्गुणकार को प्राप्त करना है। व्यक्त रूप में मन को एकाग्र करने की सुविधा होती है। जिस से इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे निर्गुणकार ब्रह्म को अनुभव करने के पर्याप्त ऊर्जा, शक्ति और एकाग्रता प्राप्त की जा सके। परब्रह्म भी सृष्टि यज्ञ के संचालन के लिये व्यक्त स्वरूप में अवतार या महापुरुष के रूप में प्रकट होता है। किन्तु बुद्धिहीन जीव, उसी व्यक्त स्वरूप की आस्था और विश्वास से आगे नही बढ़ पाता और वह वही व्यक्त स्वरूप में

ही ब्रह्म को अनुभव करने का प्रयास करने लग जाता है। परमात्मा का व्यक्त स्वरूप अनित्य ही है, अव्यक्त स्वरूप ही मन, इन्द्रियों, बुद्धि से परे है। इस को अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है और सब कुछ त्याग कर के ही प्राप्त किया जा सकता है। किंतु बुद्धि हींन जीव सांसारिक सुखों की कामना एवम आसक्ति में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप को ही ब्रह्मस्वरूप मानने लगे जाता है।

सदाहरण मनुष्य अपनी बुद्धि हीनता है कारण, व्यक्त स्वरूप प्रकट हुए परमात्मा में ही मुझे देखता है। माया से प्रकट होने के कारण कोई भी देवता नित्य नही हो सकता। भगवान कृष्ण शरीरधारी योगी है। वो अन्य को योग प्रदान कर सकते है इसलिये योगेश्वर भी है। किंतु उन का शरीर माया स्वरूप है, परमात्मा उन व्यक्त स्वरूप में अव्यक्त भाव मे है जो नित्य है। बुद्धिहीन व्यक्ति कृष्ण रूप में प्रकट परमात्मा के व्यक्त स्वरूप को ही परमात्मा मान लेते है और पूजा करते है। वो उन के अव्यक्त स्वरूप को नही पहचान पाते। प्रकट स्वरूप में परमात्मा राम, कृष्ण या अन्य किसी भी देवी देवता के रूप में हो, परमात्मा की माया का ही स्वरूप है, अतः अनित्य है, नाशवान है, नष्ट होने वाला है। उन के एक और एक मात्र अव्यक्त स्वरूप में ही परमात्मा नित्य है। माया से भ्रमित लोग परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप की बजाय व्यक्त स्वरूप की उपासना एवम पूजा करते है।

भगवान कहते है कि मैं ऐसा निर्विशेष, सामान्य तथा अव्यक्त स्वरूप होता हुआ भी और सब व्यक्तियों की भासमान सत्ता होता हुआ भी, वे बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी परम भाव को न जानते हुए, इंद्रियाओ के ही अभ्यासी होने से मुझे व्यक्त स्वरूप ही मानते है और अपनी अपनी रुचि के अनुसार राम कृष्ण आदि किसी व्यक्त स्वरूप की ही उपासना करते है, इसलिये वे मुझे सर्वसाक्षी सर्वात्मा की शरण को प्राप्त नही होते। यद्यपि वे राम कृष्णादी मुझ सर्वात्मा के लीला विग्रह है और उन की उपासना मेरी शरण गति के लिये एक बीच का सोपान है, परंतु उस सोपान को ही उद्दिष्ट स्थान मान कर वे वहां ही डेरा डाल देते है और मेरी ओर आगे नही बढ़ते।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.24।।

।। व्यक्त - अव्यक्त परब्रह्म ।। विशेष - 7.24 ।।

स्वामी चिन्मयानंद के द्वारा इस श्लोक की व्याख्या काफी सरल होते हुए भी गंभीर है

समस्त नामरूपों की वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि में प्रकाशित हो रहे परम सत्य को ग्रहण करने की विवेकसार्मथ्य जिन में नहीं है वे लोग अव्यय अविनाशी आत्मतत्त्व का साक्षात् नहीं कर पाते। अनित्य दृश्यमान जगत् में अत्यन्त आसक्ति के कारण वे यह नहीं जान पाते कि यह सम्पूर्ण नामरूपमय जगत् सूत्र में मणियों के समान परमात्मा में पिरोया हुआ है। जिस चैतन्य के प्रकाश में सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है उस परम सत्य को ही यहाँ अव्यक्त शब्द से इंगित किया गया है। इस शब्द का लक्ष्यार्थ समझना आवश्यक है। जो वस्तु इन्द्रियगोचर है या मन और बुद्धि के द्वारा जानी जा सकती है जैसे भावना या विचार वह व्यक्त कहलाती है। अत इन तीनों उपाधियों के द्वारा जिसे जाना नहीं जा सकता वह वस्तु अव्यक्त है। आत्मतत्त्व ही अव्यक्त हो सकता है क्योंकि वही एकमात्र चेतन तत्त्व है जिस के कारण इन्द्रियां मन और बुद्धि स्वविषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा इन सब

का द्रष्टा है और इसलिए कभी दृश्यरूप में नहीं जाना जा सकता। वह अव्यक्त है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लोग केवल स्थूल भौतिक रूप को ही देख पाते हैं। अविवेक के कारण वे गुरु अथवा अवतार के शरीर को और सार्मथ्य को देखकर उतने मात्र को ही सनातन सत्य समझ लेते हैं।

इस में कोई सन्देह नहीं कि चित्त की एकाग्रता के लिए अथवा उपासना के लिए किसी उपास्य की प्रतीक या प्रतिमा के रूप में आवश्यकता होती है किन्तु वह प्रतिमा स्वयं परमार्थ सत्य नहीं हो सकती। यदि वही सत्य वस्तु होती तो पाषाण से मूर्ति बनाने के पश्चात् या गुरु के पास पहुँचने मात्र से साधक को सत्य की प्राप्ति हो जाने से उसे और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती मूर्ति पूजा का प्रयोजन चित्त की शुद्धि एवं एकाग्रता प्राप्त करना है जिस के द्वारा ध्यान का अभ्यास कर के आत्मा का साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। यह श्लोक स्पष्ट रूप से हमें बताता है कि बोतल को औषधि समझना शरीर को ही गुरु और मूर्ति को ही भगवान् समझ लेना व्यर्थ है सभी श्वेत काष्ठ चन्दन नहीं और आकाश में प्रत्येक चमकीली वस्तु तारा नहीं होती। हो सकता है कि किसी ऊँचे स्तम्भ से आ रहे प्रकाश को देखकर अतिमूढ़ पुरुष उसे सूर्य समझ ले परन्तु कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उस की धारणा को गम्भीरता से नहीं लेगा।

अवतार का सिद्धांत हिन्दू धर्म में स्वीकार किया जाता है। किसी न किसी मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति ही अवतार कहा जा सकता है। एक ही सत्य सर्वत्र सब में व्याप्त है। मन और बुद्धि की उपाधियों में वह व्यक्त होता है। जितना ही अधिक शुद्ध और स्थिर अन्तकरण होगा उतना ही अधिक चैतन्य का प्रकाश उस में व्यक्त होगा। जिस पुरुष का अन्तकरण अत्यन्त शुद्ध एवं स्थिर होता है और जिस ने अपरा प्रकृति पर पूर्ण विजय पा ली होती है वह ऋषि मुनि या पैगम्बर कहलाता है। ये पुरुष आत्मस्वरूप को पहचान कर कि वही भूतमात्र की आत्मा है उस में स्थित होकर दिव्य जीवन जीते हैं। उन के शरीर मन और बुद्धि को ही परम सत्य समझना ऐसी ही त्रुटि है जैसे कि तरंगों को ही समुद्र समझ लेना है यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ ऐसे अविवेकी लोगों के लिए अबुद्धय जैसे कठोर शब्द का प्रयोग करते हैं।

भौतिक विज्ञान और अध्यात्म में अंतर प्रमाण का है। जो हम इन्द्रियों से देख, सुन, स्पर्श, सूंघ या चख सकते है वह हमारे लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिसे हम बुद्धि के ज्ञान से सीखते है वह हमारा अप्रत्यक्ष प्रमाण होता है, किन्तु जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है, जिसे प्रमाणित नही किया जा सकता और जिसे अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है, वह नित्य परब्रह्म ही सत्य माना गया है। क्योंकि जहां इन्द्रिय, मन और बुद्धि का योग नही है, वहां हर जन नही पहुच सकता। भगवान भी कहते है, चौथे प्रकार् के ज्ञानी योगी भक्त विरले ही होते है।

अर्जुन के रथ के सारथी के रूप में कृष्ण ने परब्रह्म के स्वरूप को अव्ययम अर्थात कभी भी नहीं बदलने वाले स्वरूप को बताया है, जब की स्वयं कृष्ण मानव रूप में परब्रह्म के व्यक्त और प्रकृति स्वरूप को दर्शा रहे है। जो की अनित्य है। इसलिए कृष्ण और राम व्यक्त और अव्यक्त शुद्ध चैतन्य स्वरूप दोनो का उदाहरण है। यह अव्यक्त स्वरूप जीव की चेतना शक्ति है जो जन्म से पहले और मृत्यु के बाद भी रहेगी। इस शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव नींद से उठे व्यक्ति से कर सकते है। सोने से पहले, सोने के बाद जो सब कुछ भूल जाने की अवस्था है, फिर स्वप्न की अवस्था फिर उस के बाद नींद से उठने के बाद जो तारतम्य जीव का जुड़ा हुआ है, वह चेतना शक्ति है। जन्म से वृद्ध अवस्था तक जो कुछ भी नही भुला

हुआ है, वह चेतना ही है। अतः जो अव्यक्त होते हुए भी नित्य है और स्थूल शरीर के बदलने से भी नही बदलता, वही नित्य है।

अधिकांश भक्त अज्ञानी, कामना और आसक्ति के कारण अपनी अपनी कामना के अनुसार मेरे व्यक्त स्वरूप के पूजा करते है और अपनी कामनाओं की पूर्ति करते है। उन देवताओं के द्वारा मैं ही उन की कामनाओं की पूर्ति करता हूँ, यह भी नही जानते। भगवान के व्यक्त स्वरूप की आराधना अधिक सरल भी है, किन्तु परमात्मा का व्यक्त स्वरूप प्रकृति और परब्रह्म की माया ही है, इसलिये नित्य नही होता। यह माया क्या है, इसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.24 विशेष ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.25॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

"nāhaḿ prakāśaḥ sarvasya,
yoga- māyā- samāvṛtaḥ.. l
mūḍho 'yaḿ nābhijānāti,
loko mām ajam avyayam".. l l

भावार्थ:

मैं सभी के लिये प्रकट नही हूँ क्योंकि में अपनी अन्तरंगा शक्ति योग-माया द्वारा आच्छादित रहता हूँ, इसलिए यह मूर्ख मनुष्य मुझ अजन्मा, अविनाशी परमात्मा को नहीं समझ पाते है। (२५)

Meaning:

Concealed by yoga maaya, I am not visible to everyone. Foolish people do not recognize me as unborn and unchanging.

Explanation:

Earlier, Shri Krishna stated the fundamental problem that most people have with regards to understanding the nature of Ishvara. A mental limitation forces people to think of Ishvara as a visible, finite entity. Here, Shri Krishna provides the reason for this mental limitation. He says that Ishvara is hidden from us due to the power of maaya.

Our mind is trained to recognize two things: space and time. We can only see, hear, touch, smell and taste objects in space. We can also perceive changes in those objects, which is nothing but the time aspect. So, we are unable to

perceive anything that is beyond space and time. We can say that space and time is maaya, or the three gunaas of prakriti known as sattva, rajas and tamas are maaya.

As per Vishnu puran “The Supreme Lord has three main energies—Yogmaya, the souls, and Maya.”

God descends in this world by virtue of His Yogmaya energy and reveals His divine pastimes, His divine abode, His divine bliss and love on the Earth plane. However, the same Yogmaya power keeps His divinity veiled from us. We are unable to feel His presence, although He is seated in our hearts. And only by God’s grace, the Yogmaya bestows upon us the divine vision that allows us to recognize and see God.

Therefore, the same Yogmaya– conceals God from the unqualified souls and bestows Her divine grace upon the surrendered souls, for they can know Him. However, those souls who are under the influence of Maya or the material energy turn their backs towards God. They remain bereft of the divine grace of His Yogmaya energy and continue living in ignorance, entangled in Maya. Others who have turned to God are in the shelter of Yogmaya and liberated from Maya.

Shri Krishna says that Ishvara has disguised himself in a dress, as it were, made of maaya. Our senses can perceive only maaya. Therefore, we fail to comprehend Ishvara, who is beyond maaya, just like the light of the sun blinds us from seeing the sun itself. Those who think that only the visible is real and the invisible is unreal are called moodha or foolish. They fail to see the real nature of Ishvara which is beyond birth and death.

But if we cannot pierce through maaya, can Ishvara do so? We shall see next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यदि समस्त जगत् के अधिष्ठान के रूप में कोई दिव्य तत्त्व विद्यमान है तो फिर क्या कारण है कि सब लोगों के द्वारा सर्वत्र सदा वह अनुभव नहीं किया जाता क्यों हम परिच्छिन्न जीव के समान व्यवहार करते हैं और अपने अनन्त स्वरूप को पहचान नहीं पाते संक्षेप में मुझ में और मेरे स्वरूप के मध्य कौन सा आवरण पड़ा हुआ है जब जिज्ञासु साधकगण वेदान्त प्रतिपादित सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं तो स्वाभाविक ही उनके मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं।

श्री विष्णु पुराण में विष्णु की तीन अवस्थाओं और विशेषताओं का वर्णन है जिन्हे योगमाया, जीव और माया कहा गया है। योगमाया के सत, रज और तम गुण है।

भगवान् कहते हैं यह मोहित जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी को नहीं जानता है क्योंकि उनके लिए मैं त्रिगुणात्मिका योगमाया से आच्छादित रहता हूँ। जब वेदान्त के प्रारम्भिक विद्यार्थी माया को एक बाह्य वस्तु के रूप में समझने का प्रयत्न करते हैं तब उसे समझने में अत्यन्त कठिनाई होती है। परन्तु जब वे अध्यात्म दृष्टि से विचार करते हैं अर्थात् अपने ही अन्तकरण में माया किस प्रकार कार्य करती है ऐसा विचार करते हैं तो माया का सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। माया प्रिज्म (आयत) के समान ऐसी उपाधि है जिसके माध्यम से अवर्ण अद्वैत स्वरूप तत्त्व जब व्यक्त होता है तब सप्तरंगी प्रकाश के समान वह नानाविधि सृष्टि के रूप में प्रतीत होता है। व्यष्टि (एक व्यक्ति) में कार्य कर रही माया को ही अविद्या कहते हैं। ऋषियों ने इस अविद्या का जो कि जीव के सब दुखों का कारण है सूक्ष्म अध्ययन किया और यह उद्घाटित किया कि यह तीन गुणों से युक्त है जो मनुष्य को प्रभावित करते हैं। ये तीन गुण हैं सत्त्व रज और तम जो एक आयत का (प्रिज्म) का सा काम करते हैं और जिनके माध्यम से हमें इस बहुविधि सृष्टि का अनुभव होता है। रजोगुण का कार्य है विक्षेप और तमोगुण का कार्य बुद्धि पर पड़ा आवरण है।त्रिगुणों के विकारों से मोहित और भ्रान्त पुरुष को आत्मा का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। उस आत्मज्ञान के लिए गुरु के उपदेश तथा स्वयं की साधना की आवश्यकता होती है।

प्रसंग है कि परमात्मा पर विश्वास रखने वाले जीव के गांव में बाढ़ आई तो उस समय एक व्यक्ति दौड़ता हुआ गुजरा और उसे भागने और सुरक्षित स्थान पर जाने को कहा। किंतु यह भक्त यही रट लगाने लगा कि मैं परमात्मा का भक्त हूं तो स्वयं भगवान को ही उसे बचाना होगा। गांव में पानी घुस गया तो एक नाविक उस के पास पहुंचा और नाव में बैठ कर चलने को कहा, किंतु यह मनुष्य फिर भी नही गया कि उस के भगवान को ही बचाने आना होगा। पानी अत्यंत बढ़ जाने से वह अपने घर की छत पर बैठा और प्रभु को पुकार रहा था, तभी एक हेलीकॉप्टर आया और उसे रस्सी पकड़ कर ऊपर आने को कहा। इस जीव ने कहा कि मैं तुम्हारे साथ नही चल सकता, मुझे भगवान को ही बचाने आना होगा और फिर बाढ़ का पानी बढ़ने से वह डूब कर मर गया। ऊपर जब वह परमात्मा से मिला तो उस को शिकायत थी, कि भगवान ने उस के अथाह विश्वास को तोड़ दिया, वे उसे बचाने नही आए। तब परमात्मा ने कहा मैं वहां तीन बार प्रथम चेतावनी देते मनुष्य के रूप में, दूसरा नाविक के रूप में और तीसरा हेलिकॉप्टर के चालक के रूप में आया था, किंतु तुम ही मुझे नहीं पहचाना पाए।

हम बुद्धि और विवेक की अपेक्षा समय, स्थान और ज्ञानेद्रियो से परमात्मा को खोजना चाहते है। परमात्मा की छवि हम अपनी ही बना कर, उसे उसी रूप में भगवान मानते है, जब की वह तो कण कण में समाया है। इसी को अज्ञान आच्छादित भ्रमित बुद्धि अर्थात माया भी कहते है।

किसी ग्रामीण अनपढ़ व्यक्ति के लिए बल्ब में विद्युत का अभाव प्रतीत होता है क्योंकि वह अव्यक्त होती है। उसके प्रवाह को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए सैद्धांतिक ज्ञान तथा प्रत्यक्ष प्रयोग की अपेक्षा होती है। एक बार विद्युत शक्ति के गुणधर्म का ज्ञान हो जाने पर यदि वह मनुष्य उसी बल्ब में प्रकाश देखे तो उसे अव्यक्त विद्युत का ज्ञान तत्काल हो जाता है इसी प्रकार आत्मसंयम श्रवण मनन और निदिध्यासन के द्वारा जब साधक का क्षुब्ध मन प्रशान्त हो जाता है तब आवरण के अभाव में वह मुझ

अजन्मा अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है। अज्ञानी जीव विषयउपभोगों में नित्य सुख की खोज तभी तक करता है जब तक आवरण और विक्षेप की निवृत्ति नहीं हो जाती।

कामाग्नि में सुलगते निराशा में जकड़े असन्तोष से कुचले और आत्मनाश के भय से व्याकुल उन्मत्त और संत्तप्त मनों में समता और एकाग्रता कदापि नहीं हो सकती कि वे क्षणभर के लिए भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनुभव कर सकें। योगमाया से मोहित यह जगत् मुझ अव्यय स्वरूप को नहीं जानता। मानो नाम और रूप की इस सृष्टि ने आत्मा को आवृत्त कर दिया है। यह आवरण उसी प्रकार का है जैसे प्रेत स्तम्भ को मृगमरीचिका रेत को और तरंगे समुद्र को आच्छादित कर देती हैं

योगेश्वर कहते है - मै अपनी योगमाया से ढका हुआ हूँ। केवल योग के परिपक्व अवस्था वाले योगरूढ़ ही मुझे देख पाते है इसलिये अज्ञानी लोग मुझ अजन्मा, अविनाशी, नित्य एवम अव्यक्त को नही जानते।

भगवान का कहना है मेरी योग माया से भ्रमित होने के कारण अज्ञानी लोग बाह्यमुखी हो जाते है। उन्हें जो प्रत्यक्ष दिखता है वो ही सत्य लगता है। अपनी दोष दृष्टि के कारण इन अज्ञानी प्राणियों के सम्मुख अंदर बाहर सब रूप में उपस्थित होता हुआ भी मैं उन की योग माया की दोष दृष्टि के कारण नही दिखता और वो उन के ही संकल्प जगत के रूप में मुझे देखते एवम भजते है। वो यह योगमाया के संसार मे कितना भी दुख को प्राप्त करे या कष्ट को भोगे किंतु योग माया को त्याग को मुझे प्राप्त करने की चेष्टा नही करते। उन का अहम एवम कामना उन के नाशवान शरीर से जुड़ी है जिस के कारण वो मुझे मेरे व्यक्त स्वरूप को ही मुझे मानते है एवम भजते है। इन की दृष्टि में में अपनी योगमाया के अंदर छुपा हूँ जबकि मै नही यह लोग मेरी योगमाया के आवरण से ढके पड़े है।

दुनिया मे जितनी भी अजीबो गरीब चीजे प्रकृति में होती है उसे हम अज्ञान वश भगवान की लीला या चमत्कार कहते है किंतु विज्ञान को जानने वाला उस को अध्ययन करता है और उस के कारण को खोजता है।

इसलिये मेरे मर्म को जानने वाले अन्य तत्ववेत्ताओं की दृष्टि से मैं नही छुप पाता हूँ क्योंकि वे अंर्तमुखी हो योगरूढ़ हो जाते है और मुझे देख पाते है।

यहां यह कहना भी अनुचित नही होगा कि ईश्वर को प्राप्त करने की कामना रखने वाले हम लोग भी ईश्वर की अपनी दिनचर्या की भांति ही प्राप्त करना चाहते है, एक छोटे से कीड़े तो भी मृत्यु का भय रहता है इसलिये वो भी जान बचाने के लिये इधर उधर भागता है, वो कितनी भी गंदगी में रहे या कष्ट भोगे किन्तु योगमाया के कारण वो शरीर के मोह को अपनी अज्ञानता के कारण नही त्याग सकता। फिर हम अपने मनुष्य जीव में बुद्धि एवम विवेक रखते हुए भी इस योग माया के कारण अपने अहम एवम कामना को नही त्याग पाते एवम निष्काम हो कर कर्मबंधन से मुक्त होना नहीं चाहते। प्रकृति के त्रियामी गुणों के कारण हम परमात्मा को उन के व्यक्त स्वरूप में भजते है इसलिये बादल छा जाने से हम जैसे मानते है कि सूर्य ढक गया वैसे ही योगमाया के कारण हम मानते है परमात्मा ढका हुआ है।

यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्तिमें भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए थी, परन्तु उस समय इसकी तनिक भी प्रतीति नहीं होती। अत: यह स्वप्न के समान असत् और मिथ्या है।

जिस प्रकार स्वप्न में निद्रा-दोषसे कल्पित देश, काल, विषय और ज्ञाता आदि-- सभी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत-अवस्था में भी यह जगत्, अपने अज्ञानका कार्य होने के कारण मिथ्या ही है। इसीलिए यह शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अहंकार आदि सभी मिथ्या हैं। अतः हम वही हैं जो प्रशांत, निर्मल, परम और अद्वितीय ब्रह्म है।

जो जाति (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि), नीति (समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति आदि), कुल, गोत्रसे परे है; तथा जो नाम, रूप, गुण, दोष, देश, काल तथा सभी विषयोंसे अतीत है; ऐसा जो ब्रह्म है, वह हम ही हैं - अपने अन्त:करणमें हमें ऐसी भावना करनी चाहिए।

लोकवासना (अन्य लोगों को संतुष्ट करने की चेष्टा), शास्त्रवासना (शास्त्र-चर्चा के द्वारा आनंद प्राप्त करने की इच्छा) और देहवासना (शरीर के सौन्दर्य तथा भोगसुख की चेष्टा) - इन तीनों के कारण भी, जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

तत्त्वज्ञानियों का कहना है कि संसार -रूपी कारागार से मुक्ति पाने के इच्छुको के लिए, ये पूर्वोक्त तीन सुद्दढ वासनाऐ, पाँवो में पड़ी हुई लोहे की जंजीर हैं। जो उससे छुटकारा पा लेता है, वही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

परमात्मा अपने स्वरूप के बारे में अब आगे क्या वर्णन करते है यह हम अगले श्लोकों में पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 7.25 ।।

।। प्रसंग कथा - माया ।। विशेष - 7.25 ।।

माया को समझने के लिये एक प्रसंग भी है। एक बार नारद ऋषि ने भगवान विष्णु जी से आग्रह किया कि प्रभु आप जिसे योग माया कहते है जो इस संसार मे प्रत्येक जीव को भ्रमित कर के रखती है, उसे देखने की इच्छा है। विष्णु जी ने कहा कि कभी वक्त आएगा तो योग माया से मिला देंगे।

इस बात को वक्त हो गया। एक बार नारद जी विष्णु भगवान के साथ टहल रहे थे कि उन को प्यास लगी और उन्होंने नारद जी से कहा कि पानी की व्यवस्था करो। नारद जी लौटा ले कर पानी लेने चले कि एक कुटिया देख कर दरवाजा खड़खड़ाया। बाहर अत्यंत सुंदर षोडस वर्षी कन्या आई और पूछा कि आप को क्या चाहिए। परंतु नारद जी उस कन्या के रूप एवम यौवन को देख कर सब कुछ भूल गए और उस को एक टक निहारने लगे एवम उस के साथ बात करने लगे। बात यहां तक पहुच गयी कि उन्होंने उस से शादी का प्रस्ताव भी रख दिया। आश्चर्यजनक यही कि उस कन्या ने लज्जाते हुए प्रस्ताव भी स्वीकार् कर लिया। नारद जी विवाह कर उस के साथ रहने लगे और घर गृहस्थी चलाने के लिये काम मे भी लगे। उन का हरि भजन भी लगभग छूट से गया। कालांतर में उन को दो बच्चों का सुख भी मिला। तभी गांव में अनहोनी होती है, और खूब बारिश के साथ पास में बह रही नदी में बाढ़ आ जाती है।

नारद जी बाढ़ से बचने के लिए दोनों बच्चों को कंधे पर लाद कर अपनी पत्नी से साथ नदी से पार जाने की तैयारी करते है। किंतु नदी के बहाव से उन का शरीर हिल जाता है और दोनों बच्चे नदी में गिर कर बहने लगते है। नारद से पीड़ा से चिल्ला उठते है और पत्नी का हाथ छोड़ कर बच्चों को पकड़ने की चेष्टा करते है। किंतु बच्चे हाथ नही लगते और इधर पत्नी का हाथ छोड़ देने से पत्नी भी बह जाती है। जैसे तैसे खुद को नदी के किनारे ला कर सर पटक पटक कर रोने लगते है और भगवान को कोसने लगते है।

तभी उन के कंधे पर कोई हाथ रखता है और वो उस व्यक्ति की देखते है। अरे! यह तो विष्णु भगवान है, वो रो रो कर उन को अपना दुखड़ा सुनाने लगते है।

तब विष्णु भगवान उसे झंझोड़ते हुए होश के लाते है और पूछते है। हे नारद! यह क्या हाल बना रखा है तुम तो मेरे लिये पानी लेने गए थे।

तुरंत नारद जी को होश आ जाता है और वो नत मस्तक हो कर बोल उठते हैं कि प्रभु आप की योग माया क्या है, मुझे समझ भी गया और दिख भी गया।

अपरा एवम परा प्रकृति में यह जीव आप ही है। पांच तत्व, मन, बुद्धि एवम अहंकार से जैसे ही आप मिलते हो आप भूल कर इच्छा और उस उतपन्न राग-द्वेष में फस जाते हो। आप परमात्मा स्वरूप हो यह भूल कर प्रकृति की त्रियामी गुण शक्ति एवम योग माया में कर्मबन्धन को ही सत्य समझ कर सांसारिक जीवन जीने के मजबूर हो जाते है। यह तन्द्रा जब अंत समय आता है तो ही समझ मे आता है कि हम किस काम को निकले थे और क्या करने लग गए।

राजा जनक कहते हैं कि अपने सम्पूर्ण आकार, नामरूप के सहित यह संसार वास्तविक रूप में कुछ भी नहीं है, यह निश्चित है । और यह भी निश्चित है कि आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है । यदि ऐसा है तो फिर यह संसार जो अस्तित्वहीन है, तो दिखाई क्यों देता है? वह जगत इस समय किसमें कल्पित है !

परम-शुद्ध - आत्मा के परम सौन्दर्य का श्रवण करने के बाद भी; अपने आसपास, इर्द-गिर्द रहनेवाले विषयों में अत्यंत आसक्त हुआ पुरुष मलिनता (मूढ़ता) को प्राप्त होता है ।

पवित्र- अद्वैत- तत्त्व में स्थित होने के बाद भी और मुमुक्षु पुरुष, काम के वशीभूत होकर काम भोगों के लिए बेचैन (विकल) होता है । यह बहुत आश्चर्यजनक बात है ।

आश्चर्य है, जो व्यक्ति इस संसार और परलोक में मिलनेवाले सभी प्रकार के वैषयिक सुखों के प्रति पूर्णतया विरक्त है, जो यह विवेक कर सकता है कि नित्य क्या है और अनित्य क्या है, जो मुक्ति का कामना करता है, मुक्त होना चाहता है , वही मोक्ष से डरा हुआ है । सच में उससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है !

बन्धन तभी है जब हमारा चित्त कुछ चाहता हो, शोक करता हो, कुछ छोड़ता हो, कुछ पकड़ता हो, कुछ पानेपर प्रसन्न होता हो अथवा चाही हुई वस्तु न मिलने पर क्रोधित होता हो । ये सारे कार्य मन (चित्त) के हैं। अतः मन का होना ही प्राणी का सबसे बड़ा बन्धन है ।

मुक्ति का अर्थ है जब चित्त कुछ भी न चाहे, किसी की भी चिन्ता न करे, न कुछ पकड़े और न कुछ छोड़े , न प्रसन्न हो और न क्रोधित हो । अर्थात मन की शान्त स्थिति ही मोक्ष है । संसार मन के चाहने की अवस्था है और किसी प्रकार की कोई चाह न होने की स्थिति ही मोक्ष है ।

कहा जाता है कि हमे ज्ञान की आवश्यकता है, जब कि वास्तविक सत्य यही है कि आप स्वयं प्रकाशवान और ज्ञानवान पूर्णब्रह्म है। आप के ऊपर परब्रह्म की योगमाया का पर्दा गिरने से आप के अंदर प्रकृति के संग जुड़े रहने का अज्ञान का कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव है। यही अज्ञान को हटाना ही ज्ञान है। जैसे ही आईने से धूल हटाने से सामने खड़े इंसान का अक्स स्पष्ट दिखने लगता है, वैसे ही योगमाया का पर्दा हटते ही, जीव को अपने प्रकाशवान एवम ब्रह्म स्वरूप दिखने लग जाता है। यही संसार और ईश्वर की रचना का मूल रहस्य है कि हम किस प्रकार अपने अज्ञान से बाहर आये।

।। हरि ॐ तत सत ।। प्रसंग कथा - माया ।। विशेष 7.25 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.26॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

"vedāhaṁ samatītāni,
vartamānāni cārjuna..।
bhaviṣyāṇi ca bhūtāni,
māṁ tu veda na kaścana"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! मैं भूतकाल में, वर्तमान में और भविष्य में जन्म-मृत्यु को प्राप्त होने वाले सभी प्राणीयों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नही जानता है। (२६)

Meaning:

I know those beings who used to exist, who exist now, and who will exist in the future, O Arjuna, but no one knows me.

Explanation:

Here the question of personality and impersonality is clearly stated. If Krishna, the form of the Supreme Personality of Godhead, were maya, material, as the impersonalises consider Him to be, then like the living entity He would change His body and forget everything about His past life.

Anyone with a material body cannot remember his past life, nor can he foretell his future life, nor can he predict the outcome of his present life; therefore he

cannot know what is happening in past, present and future. Unless one is liberated from material contamination, he cannot know past, present and future.

Shree Krishna says that He has the knowledge of everything, the past, present, and the future. However, with our finite intellect, we cannot know the Almighty God. His infinite glory, splendours, energies, qualities, and extent are beyond the comprehension of our inadequate intellect.

Unlike the ordinary human being, Lord Krishna clearly says that He completely knows what happened in the past, what is happening in the present, and what will happen in the future. In the Fourth Chapter we have seen that Lord Krishna remembers instructing Vivasvan, the sun- God, millions of years ago. Krishna knows every living entity because He is situated in every living being's heart as the Super soul. But despite His presence in every living entity as Super soul and His presence as the Supreme Personality of Godhead, the less intelligent, even if able to realize the impersonal Brahman, cannot realize Sri Krishna as the Supreme Person. Certainly, the transcendental body of Sri Krishna is not perishable.

In continuing the topic of maaya, Shri Krishna makes it very clear that maaya or the limitations of space and time do not have any impact on Ishvara. He says that Ishvara does not identify with any one form, therefore he has knowledge of all forms in the past, present or future. In other words, Ishvara transcends time.

Earlier, Shri Krishna had said that Ishvara is like a string that goes through all the beads in a necklace, which is a poetic way of saying that Ishvara is beyond space. So therefore, we can conclude that Ishvara is beyond space and time.

The Vedic scriptures state:

“God is all-knowing and omniscient. His austerity consists of knowledge.”

“God is beyond the scope of our intellectual logic.”

“God cannot be described in words, nor can our mind comprehend Him.”

“God cannot be analysed by arguments or formulated by words, mind, and intellect.”

Looking at it differently, we who inhabit the world of three dimensions cannot understand the dimensionless Ishvara. When viewing a live broadcast, we are conscious of the time aspect because we cannot know how the broadcast will end. But if we are viewing a recorded program, we have the ability to go backwards and forwards in time and see all the events regardless of when they took place. Time as a concept ceases to exist if we have that ability.

Similarly, from Ishvara's standpoint, there is no such thing as the past, present or future, because the concept of time does not exist for him. That is how he can have knowledge of everyone that was alive, is alive and will be alive.

What is the implication for us? The only way to know Ishvara completely is to surrender to him and take refuge in him. This means knowing that we do not have an independent existence or power apart from Ishvara. We need to lose our identity in Ishvara, become one with Ishvara.

Only God knows Himself. However, if He finds some eligible soul, He bestows His grace upon that fortunate soul, and then with God's divine intellect, the soul gets to know God. Therefore, only by God's grace one can know God. Our material intellect does not have the capacity to know Him otherwise. The concept of God's grace is discussed again in detail in 10.11 and 18.56.

Now, if we know that Ishvara alone is the truth, that alone is going to give infinite happiness, why don't we really strive to know that, Ishvara? Why is it that we get stuck here and there? This is answered in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान नित्य, अविनाशी, अनन्त, अकर्ता एवम अजन्मा है। इसलिये **वो काल से परे** है। किसी गोल वस्तु का कोई केंद्र बिंदु नही होता, वैसे ही परब्रह्म जो नित्य है, उस का कोई काल नही है। भूत, वर्तमान एवम भविष्य उन का होता है जो नाशवान है। इसलिये वे भूत प्राणी मुझे अपने आत्मस्वरूप को जो कि उन के सर्व ज्ञान, सर्व दृष्टि सर्व चेष्टाओं में ही विद्यमान है, योगमाया के कारण नही जानते। परमात्मा क्योंकि कालातीत है, इसलिये सर्वज्ञ है और जीव काल से बंधा है इसलिये अल्पज्ञ है। ज्ञ का अर्थ है, ज्ञाता अर्थात परमात्मा के लिये कोई काल का बन्धन नही है, यह भूत, वर्तमान और भविष्य का बन्धन जीव के लिये है।

शंकराचार्य जी ने ब्रह्म के विषय में लिखा है,

सब उपाधियों से छूटा हुआ सत्- चित्- आनन्दरूप अद्वितीय, निर्विशेष, एकरूप, आभासरहित (प्रतिबिंबरहि), जिसको 'वह' या ' यह' नहीं कह सकते , जिसको अंगुली से नहीं चला सकते, आदि और अन्त से रहित, व्यापक, शान्त, कूटस्थ, तर्क और ज्ञान का अविषय निर्गुण ब्रह्म ही शेष रहता है ।।

हे विद्वन् शिष्य ! भूत , भविष्य और वर्तमान - तीनों काल में भ्रान्ति से प्रतीत होनेवाला सजातीय , विजातीय और स्वगत रूप कोई भी भेद वास्तव में ब्रह्म में नहीं है ।।

जिस अवस्था में अन्य को नहीं देखता है ; यह श्रुति भ्रम से ब्रह्म में कल्पना किए हुए के (आरोपित वस्तु के) मिथ्यापन-ज्ञान बताने के लिए , द्वैत का निषेध करती है। क्योंकि श्रुति द्वैत का निषेध करती है ; इसलिए सदैव अद्वितीय, उपाधिरहित, शुद्ध , निरन्तर आनन्दमूर्ति, इच्छाशून्य, किसी का आश्रय न रखनेवाला, स्वप्रतिष्ठ और केवलमात्र एक ही ब्रह्म है ।।

ब्रह्म में कोई भेद नहीं है , उसमें गुणों का अनुभव नहीं है, उसमें वाणी का व्यापार नहीं है और मन का व्यापार भी नहीं है। वह केवल शुद्ध , अत्यंत शान्त, व्यापक, अनादि काल से विद्यमान, अद्वितीय है और वह आनन्दमात्र ही प्रकाशित होता है । यह जो जरा - मरण - रहित, सत्- चित्- आनन्दस्वरूप परम सत्यस्वरूप वस्तु (ब्रह्म) है, यह नित्य है; हे शिष्य! मेरा यह वचन सत्य हे ।।

ऐसा कहा गया है कि ब्रह्म से जीव अर्थात आत्मा पृथक हुई तो एक अंश ने योगमाया पर अधिकार कर लिया और अपनी आज्ञा से उसे संचालित करने लगा, वही ईश्वर कहलाया। अन्य जीव योगमाया में फस कर योगमाया से भ्रमित हो कर अपने को कर्ता और भोक्ता मानने लग गया, वह जीवात्मा कहलाया। एक प्रसंग भी है कि पिता के संग एक बालक सड़क पर घूम रहा था तो उसे एक व्यक्ति जिस के हाथ बंधे थे, एक पुलिस के साथ जा रहा था। बालक ने पिता से पूछा कि यह कौन है, तो पिता ने बताया कि यह चोर है और कानून के हिसाब से चोरी करना अपराध है, इसलिए पुलिस इसे पकड़ कर ले जा रही है। आगे बालक दो एक व्यक्ति बंधा हुआ चार हथियार बंध पुलिस के साथ मिला, उस ने पूछा की यह कौन है, पिता ने कहा यह बड़ा चोर है। फिर बालक को किसी बड़े नेता के साथ दस - पंद्रह हथियार बंध जाते दिखे तो वह चिल्लाया, "देखो! यह बहुत बड़ा चोर जा रहा है।" तब पिता ने समझाया कि यह चोर नही है। यह कानून को बनानेवाला है इसलिए पुलिस इस के साथ है। जब की पहले दो कानून को तोड़ने वाले है, इस पुलिस के नियंत्रण में है। अर्थात जो माया अर्थात पुलिस पर अधिकार रखता है, वह ईश्वर और जो पुलिस से अर्थात माया से नियंत्रित होता है, वह जीव है।

विश्व के सभी धर्मों में ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है किन्तु केवल वेदान्त में ही सर्वज्ञता का सन्तोषजनक विवेचन मिलता है। उपनिषदों के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में गीता का विशेष स्थान है जिस में यह स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में सर्वज्ञता का अर्थ क्या है। **आत्मा ही वह चेतन तत्त्व है जो मनबुद्धि की समस्त वृत्तियों का प्रकाशित करता है। बाह्य भौतिक जगत् का ज्ञान हमें तभी होता है जब इन्द्रियां विषय ग्रहण करती हैं जिसके फलस्वरूप मन में विषयाकार वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों का वर्गीकरण कर के विषय का निश्चय करने का कार्य बुद्धि का है। मन और बुद्धि की वृत्तियां नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होती हैं। सूर्य का प्रकाश जगत् की समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब मेरे नेत्र या श्रोत रूप या शब्द को प्रकाशित करते हैं तब मैं कहता हूँ कि मैं देखता हूँ या मैं सुनता हूँ। संक्षेप में वस्तु का भान होने का अर्थ है उसे जानना और जानने का अर्थ है प्रकाशित करना। जैसे सूर्य को जगच्चक्षु कहा जा सकता है क्योंकि**

उसके अभाव में हमारी नेत्रेन्द्रिय निष्प्रयोजन होकर गोलक मात्र रह जायोगी वैसे ही आत्मा को सर्वत्र सदा सब का ज्ञाता कहा जा सकता है। आत्मा की सर्वज्ञता भगवान् के इस कथन में कि मैं भूत वर्तमान और भविष्य के भूतमात्र को जानता हूँ स्पष्ट हो जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आत्मा न केवल वर्तमान का ज्ञाता है बल्कि अनादिकाल से जितने विषय भावनाएं एवं विचार व्यतीत हो चुके है उन सबका भी प्रकाशक वही था और अनन्तकाल तक आने वाले भूतमात्र का ज्ञाता भी वही रहेगा विद्युत से पंखा घूमता है परन्तु पंखा विद्युत को गति नहीं दे सकता एक व्यक्ति दूरदर्शी यन्त्र से नक्षत्रों का निरीक्षण करता है किन्तु वह यन्त्र उस द्रष्टा व्यक्ति का निरीक्षण नहीं कर सकता इन्द्रिय मन और बुद्धि को चेतना प्रदान करने वाले द्रष्टा आत्मा को किस प्रकार कोई जान सकता है भगवान् श्रीकृष्ण इस आत्मदृष्टि से कहते हैं यद्यपि मैं सबको सर्वत्र सदा जानता हूँ लेकिन मुझे कोई भी नहीं जानता है। वेदान्त में वर्णित पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा को ज्ञाता या द्रष्टा भी नहीं कहा जा सकता जैसे शुद्ध तार्किक दृष्टि से यह कहना गलत होगा कि सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है। हमें रात्रि के अन्धकार में वस्तुएं दिखाई नहीं देतीं इस कारण दिन में उनके दृष्टिगोचर होने पर सूर्य को प्रकाशित करने के धर्म से युक्त मानते हैं। तथापि नित्य प्रकाश स्वरूप सूर्य की दृष्टि से ऐसा कोई क्षण नहीं है जब वह वस्तुओं को प्रकाशित करके उन्हें अनुग्रहीत न करता हो। अत यह कहना कि सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है उतना ही अर्थहीन है जितना यह कथन कि आजकल मैं श्वासोच्छ्वास में अत्यन्त व्यस्त हूँ आत्मा का ज्ञातृत्व औपाधिक है अर्थात् माया की उपाधि से उसे प्राप्त हुआ है। शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान माया में व्यक्त आत्मा या ब्रह्मा को ही वेदान्त में ईश्वर कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण सत्य का साकार रूप या ईश्वर का अवतार हैं और इसलिए उनका स्वयं को सर्वज्ञ घोषित करना समीचीन ही है। परन्तु दुर्भाग्य से आत्मकेन्द्रित मर्त्य जीव परिच्छिन्न संकीर्ण और सीमित मन तथा बुद्धि के छिद्र से जगत् को देखते हुए समष्टि की तालबद्ध लय को पहचान नहीं पाता। जो व्यक्ति स्वनिर्मित अज्ञान के बन्धनों को तोड़कर विश्व के साथ तादात्म्य कर सकता है वही व्यक्ति श्रीकृष्ण के दृष्टिकोण को निश्चय ही समझ सकता है उसका अनुभव कर सकता है। जो व्यक्ति सफलतापूर्वक समष्टि मन के साथ तादात्म्य प्राप्त कर जीता है वह व्यक्ति अपने तथा तत्पश्चात् आने वाले युग का कृष्ण ही है।

परमात्मा को कालातीत कहा गया है। कालातीत होने से भगवान् की दृष्टि में भूत भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल वर्तमान ही हैं। अतः भूत के प्राणी हों भविष्य के प्राणी हों अथवा वर्तमान के प्राणी हों सभी भगवान् की दृष्टि में वर्तमान होने से भगवान् सभी को जानते हैं। भूत भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल तो प्राणियों की दृष्टि में हैं भगवान् की दृष्टि में नहीं। जैसे सिनेमा देखनेवालों के लिये भूत वर्तमान और भविष्यकाल का भेद रहता है पर सिनेमा की फिल्म में सब कुछ वर्तमान है ऐसे ही प्राणियों की दृष्टि में भूत वर्तमान और भविष्यकाल का भेद रहता है पर भगवान् की दृष्टि में सब कुछ वर्तमान ही रहता है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणी काल के अन्तर्गत हैं और भगवान् काल से अतीत हैं। देश काल वस्तु व्यक्ति घटना परिस्थिति आदि बदलते रहते हैं और भगवान् हरदम वैसे के वैसे ही रहते हैं। काल के अन्तर्गत आये हुए प्राणियों का ज्ञान सीमित होता है और भगवान् का ज्ञान असीम है। उन प्राणियों में भी कोई योगका अभ्यास कर के ज्ञान बढ़ा लेंगे तो वे युञ्जान योगी होंगे और जिस समय जिस वस्तु को जानना चाहेंगे उस समय उसी वस्तु को वे जानेंगे।

ज्ञानेश्वरी के अनुसार जीव एवम परमात्मा के मध्य यदि कोई पर्दा है तो इस योगमाया का है। काल की गणना नाशवान अपरा प्रकृति के लिये है और समस्त जगत में संचालन यह योगमाया ही प्रकृति के त्रियामी गुणों से कर रही है। जिस ने पर्दा हटा दिया तो उसे परमात्मा ही दिखेगा जो स्थिर, नित्य, अविनाशी, अनन्त, अजन्मा, अकर्ता है। अतः जगत में जो दिख रहा है वो माया है और यह जीव एवम परमात्मा के मध्य जो माया है वो ही मिथ्या है। जीव जो माया के नियंत्रण में वह उस को अपने अज्ञान से नहीं जान पाता। किंतु परमात्मा जो स्वयं प्रकाशवान है, कालातीत है, वह सब कुछ बनते - बिगड़ते इस जगत को देख रखा है।

फिर कौन उसे जान सकता है, इस के लिए कहते है कि जिसे उन की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो जाए, वह ही उन्हे जान पाएगा। उन की कृपा कर्म, भक्ति या सन्यास मार्ग पर चल कर जो अपने अज्ञान का अध्यास योगी बनकर करते है, उन्हे ही उस के ज्ञान का प्रकाश दिखता है। इस को और भी विस्तार से आगे पढ़ेंगे।

पूर्व श्लोक में हम पढ़ चुके है कि ज्ञानी भक्त ही परब्रह्म को जान पाते है, जो भी लाखों में विरले ही होते है, उन का परब्रह्म को जान सकने के कारण ज्ञान के साथ श्रद्धा और विश्वास का होना बताया गया। **ब्रह्म सत्य -जगत मिथ्या** जब सभी मे और सब तरफ परमात्मा ही है और वो हम सब की ओर देख रहा है तो क्यों हम उस को जान या प्राप्त नही कर पाते, यह जगत हमे सत्य लगता है, इस मिथ्या को हम क्यों नही समझ पाते, इस नही जानने के कारण को अब आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.26।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.27॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"icchā- dveṣa- samutthena,
dvandva- mohena bhārata..।
sarva- bhūtāni sammohaḿ,
sarge yānti parantapa"..।।

भावार्थ:

हे भरतवंशी! हे शत्रुविजेता! संसार में सभी प्राणी इच्छा-द्वेष आदि द्वन्दों से उत्पन्न मोह के कारण जन्म लेकर पुन: मोह को प्राप्त होते हैं। (२७)

Meaning:

O Bhaarata, ever since the creation (of this world), all beings attain ignorance by the delusion born of duality, O Arjuna.

Explanation:

If someone says “I love my job” or “I love to go to this city” we have no doubt in understanding that there is satisfaction in that emotion of loving something. But if someone says, “I hate my boss”, we may not admit it but there is satisfaction in expressing hatred as well. It is next to impossible for our mind to think of anything without a tinge of love or hate.

Shri Krishna says that the moment we are born, we are cast into this double or dualistic thinking. We can never think an integrated, holistic thought because we are forced to think is terms of likes and dislikes. We run after a certain object because we like it so much and cannot live without it. We finally acquire it. But once that happens, that we begin to dislike that very object that we could not live without. Ultimately every such pursuit results in sorrow.

He had covered earlier about the dualities in the world. Happiness and distress, pleasure and pain, summer and winter, night and day, etc., all these dualities exist in pairs. These dualities are an inseparable part of life’s experiences. However, the most deluding dualities in life are birth and death.

Our material intellect believes that worldly pleasures will give us happiness and fulfilment. Therefore, in material consciousness, while we desire the favourable ones, we detest the unpleasant experiences. Although attraction and aversion are not the inherent qualities of these dualities, they develop due to our ignorance. Our intellect does not realize that materially pleasurable situations will only increase our material illusion. Thus, it makes us believe that pain is detrimental to us. However, adversities have the potential of dispelling that material illusion from our mind and elevate our soul. Our ignorance is the root cause of our delusions. A spiritually elevated person accepts these dualities as inseparable aspects of God’s creation and rises above likes and dislikes, attraction, and aversion, etc.

So, the jīva has missed the infinite God who is residing in himself; infinite peace which is within himself; infinite security, which is within himself, he has missed; when? right from the time of birth itself. Therefore, Krishna says in the second line, what at the time of birth itself every jīva is affected by ignorance.

Since I do not know that the peace and happiness are within myself, I seek the very same peace and happiness outside. throughout the life he is extrovert; he never asks the question; perhaps what I seek may be within myself; he does

not even have that suspicion. In fact, he falls dead, but he never finds that what he wants is within himself. Therefore, the entire world is deluded because of ignorance.

Cause of happiness is what? knowing myself; cause of sorrow is what? not knowing myself. Sorrow and happiness are both cantered on me. Self-ignorance being cause of sorrow; self-knowledge being cause of happiness, I do not know.

So therefore, how do we get rid of our likes and dislikes, and begin to think holistically? Karma yoga is the answer. By relentlessly performing actions for the service of a higher ideal, we eliminate likes and dislikes to a great extent. Every sense organ has a like and dislike for its respective objects. That is an undeniable truth. But whether or not we fuel these likes and dislikes is up to us. Breaking away from the clutches of the sense organs prepares us for piercing the screen of maaya.

Now, if we summarize the shlokas so far, we have the entire problem laid in front of us. Maaya caused by our dualistic disposition blocks us, prevents us from accessing the true nature of Ishvara. Unless we gain this access, we are trapped in samsaara or earthly existence. What should we now do?

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य जब जन्म लेता है तो उसे **आत्मबुद्धि** मिलती जो उसे योग की ओर ले जाती है। उस के साथ उस मे **देहात्मक बुद्धि** भी जन्म लेती है जो उस के शरीर के सुख-दुख, लाभ-हानि, राग-द्वेष से जुड़ी रहती है। देह बुद्धि का एक भाग **अनुकूल बुद्धि** कहलाता है जिसे इच्छा या राग भी बोल सकते है और दूसरा भाग **प्रतिकूल बुद्धि** भी कहलाता है जिसे द्वेष भी कहलाता है। इसी देहात्मक बुद्धि के अनुकूल बुद्धि एवम प्रतिकूल बुद्धि के परिणाम स्वरूप हम राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-माया, सुख-दुख एवम लाभ-हानि जैसे मोह-ममता एवम अहम के द्वंद में फस कर रह जाते है। **बचपन से हम जिस निर्गुण, निराकार, नित्य ब्रह्म को सगुण स्वरूप में देखते, पढ़ते और समझते है, वह हमारे सांसारिक दुखो, रोग और निर्धनता के निवारण के लिए बताया जाता है। इसलिए जिस अहम और अज्ञान में हम जीवन जीते है, उस का अर्थ जीवन के अंतकाल में समझ में आने लगता है किंतु क्या करेंगे जब समय की चिड़िया चुग गई खेत।**

पूर्व में हम ने पढ़ा कि यदि श्रद्धा एवम विश्वास के साथ समर्पण परब्रह्म की ओर हो तो ज्ञान की प्राप्ति होती है और शनैः शनैः जीव ब्रह्मसन्ध हो जाता है। हमारे अंदर श्रद्धा एवम विश्वास के अभाव होने से प्रकृति जन्य राग-द्वेष होता है। राग से बन्धन अर्थात मोह, कामना, लोभ और आसक्ति होती है, यदि पूर्ति न हो तो क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध आदि आता है। राग के अभाव में द्वेष जन्म लेता है। इसलिये मानवीय

दुर्गुण में राग-द्वेष को मुख्य मानते हुए, भगवान प्रथम तीन प्रकार् के भक्तों का वर्णन करते है, जो सात्विक तो है, किन्तु अपने अपने राग-द्वेष से कामना और आसक्ति में लिप्त हो कर परमात्मा की पूजा और अर्चना विभिन्न देवी देवताओं की करते रहते है। यह भक्त अपने अपने पुण्य कर्मों के फल स्वरूप स्वर्ग, वैकुण्ठ, ब्रह्म लोक आदि में आनन्द को प्राप्त होते है, किन्तु पुण्य की समाप्ति पर पुनः जन्म-मरण के चक्र को भी प्राप्त होते है।

मनुष्य शरीर विवेक प्रधान है अतः मनुष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति उस के अपने विवेक के अनुसार होनी चाहिये। परन्तु मनुष्य अपने विवेक को महत्त्व न देकर राग और द्वेष को लेकर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है जिस से उस का पतन होता है। मनुष्य की दो मनोवृत्तियाँ हैं एक तरफ लगाना और एक तरफ से हटाना। मनुष्य को परमात्मा में तो अपनी वृत्ति लगानी है और संसार से अपनी वृत्ति हटानी है अर्थात् परमात्मा से तो प्रेम करना है और संसार से वैराग्य करना है। परन्तु इन दोनों वृत्तियों को जब मनुष्य केवल संसार में ही लगा देता है तब वही प्रेम और वैराग्य क्रमशः राग और द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं जिस से मनुष्य संसार में उलझ जाता है और भगवान् से सर्वथा विमुख हो जाता है। फिर भगवान् की तरफ चलने का अवसर ही नहीं मिलता। कभी कभी वह सत्संग की बातें भी सुनता है शास्त्र भी पढ़ता है अच्छी बातों पर विचार भी करता है मन में अच्छी बातें पैदा हो जाती हैं तो उन को ठीक भी समझता है। फिर भी उस के मन में राग के कारण यह बात गहरी बैठी रहती है कि मुझे तो सांसारिक अनुकूलता को प्राप्त करना है और प्रतिकूलता को हटाना है यह मेरा खास काम है क्योंकि इस के बिना मेरा जीवन निर्वाह नहीं होगा। सांसारिक उन्नति को ही जब उन्नति मान ली जाती है तो धन, दौलत, मान सम्मान, समाज, परिवार, देश, पद एवम शासन करने की प्रवृति उस को आत्मबुद्धि की बढ़ने से रोक देती है। वो अपने ही बनाये मकड़ी जाल में उलझ कर सुख एवम दुख के द्वंद में इस तरह उलझ जाता है कि परमात्मा को भी इसी में लगा कर अनुकूल बुद्धि के अनुसार ही फल की आशा करने लग जाता है। उस का ज्ञान, विवेक, आत्म चिंतन एवम गुरु और परमात्मा के प्रति शरणागति अपनी सांसारिक इच्छाओं के प्रति समर्पित हो जाती है। इस प्रकार वह हृदय में दृढ़ता से रागद्वेष को पकड़े रखता है जिस से सुनने पढ़ने और विचार करने पर भी उस की वृत्ति रागद्वेषरूप द्वन्द्व को नहीं छोड़ती। इसी से वह परमात्मा की तरफ चल नहीं सकता। इस संसार के कर्म बंधन में पड़ने के कारण वो अपने कर्मो के फल को भोगता है एवम जीवन मरण के चक्कर मे पड़ा रहता है।

व्यवहारिक जीवन मे भी चाहे मसला सांसारिक ही क्यों न हो, अक्सर हम जब हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते है तो आस-पास के वातावरण में होने वाली घटनाएं हमे आकर्षित करने लगती है और उस का आनन्द लेने के लिये हम अपने लक्ष्य से भटक जाते है। वैसे ही परमात्मा द्वारा यह मनुष्य जन्म तो मोक्ष की प्राप्ति के लिये है किंतु राग-द्वेष के कारण हम अपना लक्ष्य इसी संसार को मान कर जीने लगते है फिर अंत मे हिसाब लगाए तो कुछ भी हाथ नही लगता या फिर रह जाती है अतृप्त लालसा, इच्छा और राग-द्वेष एवम कलपना।

आत्मसुरक्षा की सर्वाधिक प्रबल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत मनुष्य जगत् में जीने का प्रयत्न करता है। सुरक्षा की यह प्रवृत्ति बुद्धि में उन वस्तुओं की इच्छाओं के रूप में व्यक्त होती है जिन के द्वारा मनुष्य अपने सांसारिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने की अपेक्षा रखता है। प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। यदि कोई वस्तु या व्यक्ति इस इच्छापूर्ति में बाधक बनता है तो उसकी ओर मन की प्रतिक्रिया द्वेष या क्रोध के रूप में व्यक्त होती है। इच्छा और द्वेष की दो शक्तियों के बीच

होने वाले शक्ति परीक्षण में दुर्भाग्यशाली जीव छिन्नभिन्न होकर मरणासन्न व्यक्ति की असह्य पीड़ा को भोगता है। स्वाभाविक ही ऐसा व्यक्ति सदा प्रिय की ओर प्रवृत्ति और द्वेष की ओर से निवृत्ति में व्यस्त रहता है। शीघ्र ही वह व्यक्ति अत्याधिक व्यस्त और पूर्णतया भ्रमित होकर थक जाता है। मन में उत्पन्न होने वाले विक्षेप दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए अशान्ति की वृद्धि करते हैं। इन्हीं विक्षेपों के आवरण के फलस्वरूप मनुष्य को अपने सत्यस्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता। **महात्मा बुद्ध भी यही कहते है कि अज्ञान में जिंदगी भर हम जिस सुख के लिए भागते है और धन संपत्ति एकत्रित करते है, वह जीवन के अंतकाल में भूल का अहसास दिला देती है किंतु उस समय पछताने के अतिरिक्त कुछ नही रहता।**

अत: आत्मा की अपरोक्षानुभूति का एकमात्र उपाय है मन को संयमित करके उसके विक्षेपों पर पूर्ण विजय प्राप्त करना। विश्व के सभी धर्मों में जो क्रिया प्रधान भावना प्रधान या विचार प्रधान आध्यात्मिक साधनाएं बतायी जाती हैं उन सबका प्रयोजन केवल मन को पूर्णतया शान्त करने का ही है। परम शान्ति का क्षण ही आत्मानुभूति आत्मप्रकाश और आत्ममिलन का क्षण होता है।परन्तु दुर्भाग्य है कि प्राणीमात्र उत्पत्ति काल में ही संमोह को प्राप्त होते हैं दैवी करुणा से भरे स्वर में भगवान् श्रीकृष्ण का यह कथन है। दुखपूर्ण प्रारब्ध को मनुष्य का यह कोई नैराश्यपूर्ण समर्पण नहीं है कि जिससे मुक्ति पाने में वह जन्म से ही अशक्त बना दिया गया हो। ईसाई धर्म के विपरीत कृष्ण धर्म किसी व्यक्ति को पाप का पुत्र नहीं मानता। यमुना कुञ्ज विहारी दुर्दम्य आशावादी आशा के संदेशवाहक जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ मात्र दार्शनिक सत्य को ही व्यक्त कर रहे हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी देह विशेष और उपलब्ध वातावरण में जन्म लेने की त्रासदी अपनी अतृप्त वासनाओं और प्रच्छन्न कामनाओं की परितृप्ति के लिए स्वयं ही निर्माण करता है।इस मोह जाल से मुक्ति पाना और सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करना जीवन का पावन लक्ष्य है। गीता भगवान् द्वारा विरचित काव्य है जो विपरीत ज्ञान में फंसे लोगों को भ्रमजाल से निकालकर पूर्णानन्द में विहार कराता है।

श्रद्धा और विश्वास के अभाव और राग-द्वेष में मनुष्य किसी भी विचारधारा या कर्म सही प्रकार् से चिंतन कर के नही कर पाता। उस का मन हमेशा द्वंद में उलझा रहता है और उसे प्रत्येक व्यक्ति, कार्य और विषय मे शंका बनी रहती है। यह उस की निर्णय क्षमता को प्रभावित करती है। सही निर्णय के व्यक्ति के विषय के प्रति तटस्थता अनिवार्य है।

ऐसा कहा जाता है कि गर्भस्थ शिशु की कोई कामना या इच्छा नही होती किन्तु जन्म लेते ही उसे योग माया घेर लेती है और उसे भूख, प्यास आदि का अनुभव कराती है, जिस से उसे शरीर से राग होने लगता है, फिर आसपास के जनों से। उसे लगता है वह ही ब्रह्म है। यह भ्रांति में वह अपना जीवन व्यतीत करता है, जब कि यह पार्थिव शरीर आत्मा नही है, और इन्द्रियाँ, उन के अधिष्ठाता देवता, प्राण, वायु, जल और अग्नि भी आत्मा नही है और अन्नमय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, पृथ्वी और प्रकृति इन मे कोई भी आत्मा नही है, फिर इन से प्राप्य कोई भी वस्तु आत्मा नही हो सकती। इन से यदि राग-द्वेष भी यदि कुछ है तो वह सब योगमाया ही है। जो जन्म से शुरू हो कर मृत्युपर्यन्त तक बना रहता है।

कस्तूरी मृग की भांति जीव जो स्वयं ब्रह्म का अंश है और जो स्वयं सत चित्त आनंद है, प्रकृति में अपने आनंद और सुख को खोजता है। प्रकृति में द्वंद अर्थात हर सुख के पीछे दुख, हंसी से साथ रोना, अमीरी

के साथ गरीबी, स्वतंत्रता के साथ पराधीनता है। इसी द्वंद का एक क्षोर जन्म और द्वितीय क्षोर मृत्यु है। इसलिए जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म, इसी चक्कर में घूमता रहता है। इसलिए स्थिर नहीं हो पाता।

अगले श्लोक में अपने इस राग- द्वेष के द्वंद से दूर रहने वालों के बारे में पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.27।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.28॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

"yeṣāḿ tv anta- gataḿ pāpaḿ,
janānāḿ puṇya- karmaṇām..।
te dvandva- moha- nirmuktā,
bhajante māḿ dṛḍha- vratāḥ"..।।

भावार्थ:

परन्तु जिस मनुष्य ने पूर्व- जन्मों में और इस जन्म में पुण्य- कर्म किये हैं तथा उस के सभी पाप पूर्ण-रूप से नष्ट हो चुके हैं, वह दृढ-संकल्प के साथ मेरी भक्ति कर के मोह आदि सभी द्वन्दों से मुक्त हो जाता हैं। (२८)

Meaning:

But those people of meritorious actions whose sins have been exhausted, they, freed from the delusion of duality, worship me with firm determination.

Explanation:

The delusion of duality, as we saw earlier, is a condition that we are cast into right from birth. This delusion further strengthens maaya that prevents us from accessing Ishvara. Having explained the condition of most people who are trapped in this situation, Shri Krishna now describes the people who have come out of maaya. He says that only those who have conducted enough meritorious acts and wiped out their sins acquire the firm resolution to directly access Ishvara.

Shree Krishna says that those souls who have freed their minds from the dualities of hatred and desire worship him with unshakeable determination. They neither seek pleasure in the material world nor feel an aversion for pain. They are cautious while indulging in worldly pleasures as it may again delude

their soul. Earlier, in verse 2.69, Shree Krishna had said, "What the ignorant consider as night, the wise consider as day." Such devotees, who aspire to attain God- realization, look upon adversities as an opportunity for spiritual growth and renunciation.

Let us revisit what exactly is meant here by merits and sins. What is a sin? Any time that our mind and senses drag us into the world and force us to conduct actions born out of selfish desire, we commit a sin. When this happens again and again, it adds to the moha or delusion that blocks our discrimination or viveka.

Conversely, whenever we perform an unselfish action that is in line with our svadharma or duty, we commit a merit. In doing so, we do not add to the stock of delusion, but in fact purify our mind.

But there are blessed people, who have done some puṇya karma; either in the previous janma or in this janma; and because of the puṇya karma they do their mind gets purer and purer and therefore their obstacles get lesser and lesser. And what is the indication of the reduction of pāpam; they begin to think. Despite so many achievements, I have acquired; but my problem continues; perhaps my direction is wrong; if my direction is right; at least I should have stumbled upon the solution. The very fact my, what you call, the disturbance continues, anxiety continues, worry has worsened; tension, I require sleeping pills; therefore, for something must be wrong; Once that purity comes, he feels like asking someone; is some other direction? do we have some other goal in life? is it merely arta and kāma? or do I have something else? And the moment the enquiry begins; the moment the purity comes, Bhagavān begins to give direction. Their delusion subsided and they begin to understand sukham and duḥkam are not outside; the problem is not outside; the problem is within me. Solution therefore is You alone. So once the direction is turned towards myself; then I have become spiritual. Until then, there was other spirituality; he was taking to that spirituality; the real spirituality is when I turn towards myself.

The message is clear: do your duty because it is the only way to contact Ishvara. Karma yoga, seen from this vantage point, reasserts its importance.

Next, Shri Krishna begins to conclude this chapter by planting the seed of the next chapter in two shlokas. They deal with the fundamental question of our ultimate liberation.

हिंदी समीक्षा ।।

जीव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त होना है तो उसे प्रकृति के इस द्वंद से बाहर निकलना होगा। सन्यास योग में शंकराचार्य जी का कथन है कि

काम आदि दृश्य पदार्थों का लय / नाश करके ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के इस कथन को कि " मैं शुद्ध हूँ " - विद्वान पुरुष 'शब्दानुविद्ध ' - शब्द से सम्बन्ध वाली समाधि कहते हैं ; क्योंकि इस प्रकार के शब्दों से युक्त द्रष्टा से ही स्थित पुरुष का समाधिभाव देखने में आता है ।।

देह , इन्द्रिय , मन , बुद्धि दृश्य पदार्थों के साक्षी होते हुए आत्मा में दृढ़रूप से प्रतिष्ठित और चित्त की निवर्तक अमनावस्था/ शान्त अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। जो दीर्घकाल तक निरन्तर संस्कारपूर्वक सविकल्प समाधि को करते हैं , उनको ही निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है ।।

जो निर्विकल्प समाधि में निष्ठासहित ध्रुवस्थिति में रहता है , उसका नित्य हो जाना निश्चित है । उसका जन्म-मरण के प्रवाह का अभाव हो जाता है और वह बाधारहित नित्य- अविनाशी- दृढ़ - असीम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।।

किंतु सन्यासी का निर्वाण का मार्ग सामान्य कर्मयोगी या भक्ति मार्ग के योगी के लिए कठिन है, क्योंकि ब्रह्म को जानना या समझना लगभग असम्भव है।

फिर इस द्वन्द्व मोह (राग-द्वेष) से छूटे हुए ऐसे कौन से मनुष्य हैं जो परमात्मा को शास्त्रोक्त प्रकार से आत्मभाव से भजते हैं इस अपेक्षित अर्थ को दिखाने के लिये कहते हैं जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के पापों का लगभग अन्त हो गया होता है अर्थात् जिन के कर्म पवित्र यानी अन्तःकरण की शुद्धि के कारण होते हैं, वे पुण्यकर्मा हैं ऐसे उपर्युक्त द्वन्द्वमोह से मुक्त हुए वे दृढ़व्रती पुरुष परमात्मा को भजते हैं। परमार्थ तत्त्व ठीक परमात्मा को ही मात्र इष्ट मानने के, इसी प्रकार है, दूसरी प्रकार नहीं ऐसे निश्चित विज्ञान वाले पुरुष दृढ़व्रती कहे जाते हैं। यह लोग परब्रह्म को छोड़ कर अन्य किसी देवी- देवता की शरण मे नही जाते।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से जब हम किसी भी देवी-देवता की पूजा अर्जना राग-द्वेष छोड़ कर कामना रहित दृढ़ विस्वास से करते है कि यही हमारे उद्धार के पालन हार होंगे, तो वह परब्रह्म की ही उपासना है। मीरा द्वारा कृष्ण, तुलसीदास द्वारा राम की आराधना का यही स्वरूप था।

इस श्लोक में पाप और पुण्य कर्म की बात कही गई है, निष्काम भाव से शास्त्रो में निहित कर्म, जो जन हित मे लोकसंग्रह के लिये कार्य किये जाते है, वह पुण्य कर्म है। पुण्य कर्म करने वालो की वृत्ति सात्विक एवम कामना भी सात्विक या राजसी होंगी। किन्तु पाप कर्म इन से विपरीत आसुरी वृति में तामसी या राजसी प्रकृति में स्वार्थ या किसी को हानि पहुचाने के लिये किया जाए, माना गया है। **लक्ष्य, प्रकृति के गुण, एवम प्रवृति किसी कार्य के पाप -पुण्य का निर्णय करते है, कोई कार्य स्वयं में**

पाप या पुण्य नही होता। इसलिये भगवान कहते है पुण्य कर्म करते करते जब जीव की प्रवृति सात्विक होती जाती है, तो उस के कर्मफलों में पहले के पाप कर्मों का फल क्षीण हो जाता है, वह भी ईश्वर परायण होने लगता है, और मुक्ति की ओर बढ़ता है।

हमे यह ध्यान रखना होगा कि प्रकृति कार्य - कारण के सिद्धांत पर कार्य करती है। इसलिए कोई भी कर्म या कार्य का परिणाम अर्थात फल की उत्पत्ति न हो, ऐसा संभव नही। अतः निस्वार्थ भाव से लोकहित के लिए कार्य का प्रभाव सृष्टि यज्ञ चक्र का भाग है और स्वार्थ, राग - द्वेष, लोभ या क्रोध में किया कार्य का परिणाम भी उसी प्रकार का होगा। अतः जैसा हम करते है, वैसा ही हमे फल प्राप्त होता है। इसलिए जैसे जैसे हमारे कर्म निष्काम, निर्लिप्त भाव के लोकहित में होते जायेंगे, हमारा प्रकृति का द्वंद भाव समाप्त होता जाएगा। इस से चित्त भी शांत होने लगता है। चित्त के शांत होने से हमारे ज्ञान में वृद्धि होने लगती है और हमे भगवान के स्वरूप का ज्ञान होने लगता है और हम मुक्ति के मार्ग की ओर बढ़ने लगते है। यह यात्रा एक जन्म में यदि संभव न हो तो आगे के जन्मों तक चलता रहती है।

जिन पुण्यकर्मी पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है इस कथन को सम्यक् प्रकार से समझना आवश्यक है। पाप मनुष्य का स्वभाव नहीं हैं वेदान्त के अनुसार वह मनुष्य द्वारा किये गये गलत निर्णय अर्थात् विपरीत ज्ञान का परिणाम है जिस ने आत्मचैतन्य को आच्छादित सा कर दिया है। **पाप का मुख्य कारण है बाह्य स्थूल जगत् के निम्न स्तरीय विषयोपभोग के लिए हमारे मन की तृष्णा और स्पृहा।** पापी पुरुष वह है जिसका अत्यधिक समय और ध्यान केवल अपने देहसुख के लिए ही व्यक्त होता है। ऐसे पुरुष में देह स्वामी और आत्मा उस की दासी बन जाती है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति वैषयिक सुखों की कामना मन में उठने वाली प्रत्येक निम्न कोटि की भावना का सन्तुष्टीकरण यह है पापी पुरुष की जीवन पद्धति। इस प्रकार का कामुक पाशविक जीवन अन्तकरण में वैसी ही वासनाएं उत्पन्न करता है। वासना के अनुसार ही विचार होते हैं। विचारानुसार कर्म और ये कर्म फिर वासना को ही दृढ़ करते हैं। मनुष्य की शान्ति और सन्तुष्टि को विनष्ट करने वाली वासना विचार कर्म की श्रृंखला को तोड़ने के लिए मनुष्य को पुण्य कर्म का नया जीवन प्रारम्भ करने का उपदेश दिया जाता है। **पुण्य कर्म पाप का विरोधी होने से उसके अन्तर्गत वे सब विचार भावनाएं तथा कर्म आते हैं जो ईश्वर को समर्पित होते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति होता है।** मैं देह हूँ के स्थान पर मैं आत्मा हूँ इस ज्ञान को दृढ़ करके कर्म करने पर वे अपना संस्कार उत्पन्न नहीं करेंगे। कुछ कालावधि में इन पुण्य संस्कारों के दृढ़ होने पर पाप वासनाएं नष्ट हो जायेंगी। ऐसा पाप युक्त पुरुष सुख दुखादि रूप सभी प्रकार के द्वन्द्वमोह से निर्मुक्त हो जाता है। तब उस में यह योग्यता आती है कि वह एकाग्रचित तथा दृढ़वती अर्थात् दृढ़ निश्चयी होकर आत्मा का ध्यान कर सके।

सुख स्वरूप केवल भगवान ही है, सांसारिक भोग रोग रूप है, बारंबार जन्म मरण दीर्घ रोग है और केवल भगवान की अनन्य शरण द्वारा ही इस रोग की निवृत्ति संभव है' ऐसा जिन का दृढ़ निश्चय ही वे ही दृढ़ व्रती कहलाते है। ऐसे दृढ़व्रती पुण्य कर्मी जन जिनका पाप निवृत हो गया है वे काम क्रोध तथा राग द्वेष द्वंद मोह से छूट कर मुझे भजते है अर्थात मेरी शरण मे प्राप्त होते है। पुण्य कर्मों से पाप इसी प्रकार निवृत होते है जैसे प्रकाश से अंधकार। फिर पापो की निवृत्ति से द्वंद मोह से छुटकारा होता है। द्वंद मोह से छूटने पर भगवतपरायन्ता प्राप्त होती है। भगवतपरायन्ता से भगवत प्राप्ति द्वारा जन्म मरण से छुटकारा होता है।

गीता के अनुसार मुक्ति का मार्ग किसी के लिये बन्द नही होता, यह अथक प्रयास करते रहने से बाल्मीकि या अंगुलिमार डाकू भी ऋषि बन कर ईश्वर को प्राप्त होते है। जन्म- मरण से मुक्ति बिना कोई मार्ग नही है, यह संभव मनुष्य योनि में ही है, यदि यह जन्म भी निर्रथक व्यतीत हो जाये तो फिर पुनः कष्टदायक किंतने चक्कर होंगे, यह कोई नही कह सकता। हमे यह याद रखना चाहिए कि प्रकृति जड़ है और जीव चेतन, प्रकृति से बन्धन जीव के अज्ञान से होता है, प्रकृति कभी बन्धन नही कर सकती। इसलिये भगवान कहते है कि जीवन मे कभी भी राग- द्वेष को त्याग कर दृढ़निश्चय के साथ द्वन्दरहित जब भी कोई भक्त उन को पूजना शुरू कर देता है तो कालांतर में उस के पुण्य कर्म बढ़ना शुरू हो जाएंगे और पाप कर्म कम हो जाएंगे। उस के लिये भी मुक्ति का मार्ग खुल जायेगा। कामना से सही, किन्तु कभी भी यह द्वन्दरहित भक्ति का मार्ग खुल सकता है, इसलिये सत्कर्म करते रहना चाहिये।

सातवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने साधक के लिये तीन बातें कही थीं। मय्यासक्तमनाः मेरे में प्रेम कर के और मदाश्रयः मेरा आश्रय ले कर योगयुंज्जन योग का अनुष्ठान करता है वह मेरे समग्ररूप को जान जाता है। जीव जो प्रकृति की योगमाया में द्वंद में फसा है, अज्ञानी है, अहम से भरा है, उसे अपनी गलती या अज्ञान का अध्यास भी कैसे हो। उन्हीं तीन बातों के उपसंहार के स्वरूप में अब आगे के दो श्लोकों पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.28।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 7.29॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

"jarā- maraṇa- mokṣāya,
mām āśritya yatanti ye..।
te brahma tad viduḥ kṛtsnam,
adhyātmaḿ karma cākhilam"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य मेरी शरण होकर वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने की इच्छा करता है, ऎसे मनुष्य उस ब्रह्म को, परमात्मा को और उस के सभी कर्मों को पूरी तरह से जानता हैं। (२९)

Meaning:

Those who strive for liberation from old age and death seeking my refuge, they know “brahman” as well as “adhyaatma” and “karma” completely.

Explanation:

Birth, death, old age and diseases affect this material body, but not the spiritual body. There is no birth, death, old age and disease for the spiritual body, so one who attains a spiritual body, becomes one of the associates of the Supreme Personality of Godhead and engages in eternal devotional service is really liberated. **Aham brahmasmi**: I am spirit. It is said that one should understand that he is Brahman, spirit soul. This Brahman conception of life is also in devotional service, as described in this verse. The pure devotees are transcendentally situated on the Brahman platform, and they know everything about transcendental activities.

As a prelude to the eighth chapter, Shri Krishna introduces a series of technical terms that a devotee needs to know the meaning of in order to gain access to Ishvara. The terms are listed in this shloka and the next shloka, whereas the meaning of the terms is explained in the beginning of the eighth chapter.

Who exactly is this devotee? Shri Krishna says that it is that devotee who is striving. In other words, he is performing karma yoga for purification of his mind and intellect and has become ready for meditation. But this devotee is not driven by blind faith. He is a jnani or wise devotee.

Although some spiritual seekers consider ātma-jñāna, or knowledge of the self, as the ultimate goal of human birth, it is only a tiny drop in the ocean of knowledge, which is brahma-jñāna or the knowledge of God. By just knowing a drop, one cannot understand the enormity, depth, or prowess of the ocean. Therefore, ātma-jñāna cannot be in any way equal to brahma- jñāna. However, it can be a starting point toward the absolute.

Shree Krishna states that those who take His shelter are liberated from the cycle of birth and death forever. And by His divine grace, they receive brahma-jñāna or knowledge of the Brahman, ātma-jñāna or knowledge of the self and the entire field of karmic action or the divine laws of karma.

So now, what should the wise devotee have knowledge of? Three technical terms are mentioned in this shloka: brahman, adhyaatma and karma. Some more terms will be added in the next and last shloka of the seventh chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

चित्तशुद्धि तथा ध्यानसाधना का प्रयोजन है जरा और मरण से मुक्ति पाना। आधुनिक काल में भी मनुष्य ऐसे उपायों को खोजने का प्रयत्न कर रहा है जिस के द्वारा जरा और मरण से मुक्ति मिल सके। उस की अमृत्व की कल्पना यह है कि इस भौतिक देह का अस्तित्व सदा बना रहे परन्तु अध्यात्म शास्त्र में इसे अमृतत्त्व नहीं कहा है और न देह के नित्य अस्तित्व को जीवन का लक्ष्य बताया है। **प्राणिमात्र के लिए प्रकृति महाभूतो के जन्म वृद्धि व्याधि क्षय और मरण ये विकार अवश्यंभावी हैं।** ये सभी विकार या परिवर्तन मनुष्य को असह्य पीड़ा दायक होते हैं। इन के अभाव में मनुष्य का जीवन अखण्ड आनन्दमय होता है।

जब मनुष्य शरीर के साथ तादात्म्य (मैं यही हूँ) मान लेता है तब शरीर के वृद्ध होने पर मैं वृद्ध हो गया और शरीर के मरने को लेकर मैं मर जाऊँगा ऐसा मानता है। यह मान्यता शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है इसी पर टिकी हुई है। जन्म मृत्यु जरा और व्याधि में दुःखरूप दोषों को देखना इस का तात्पर्य है कि शरीर के साथ मैं और मेरा पन का सम्बन्ध न रहे। जब मनुष्य मैं और मेरापन से मुक्त हो जायगा तब वह जरा मरण आदि से भी मुक्त हो जायगा क्योंकि शरीर के साथ माना हुआ सम्बन्ध ही वास्तव में जन्म का कारण है। वास्तव में इस का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है तभी सम्बन्ध मिटता है। मिटता वही है जो वास्तव में नहीं होता।

अतः जो यह महसूस करता है, समझता है, जानता है और भय में ग्रस्त रहता है, वह यह शरीर नही हो सकता। शरीर को अपना स्वरूप समझना ही अज्ञान है। इसलिए जो इस अज्ञान का अध्यास करता है, उसे अपना स्वरूप अर्थात ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यानाभ्यास में साधक का प्रयत्न इन परिवर्तनशील उपाधियों के साथ हुए तादात्म्य से ऊपर उठकर कालत्रयातीत मुक्त आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने का होता है।योग्यता सम्पन्न साधक आत्मा का ध्यान करके अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार करता है कि यह आत्मा मैं हूँ। यह आत्मा ही वह परम सत्य है जो समस्त ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान है जिसे वेदान्त में ब्रह्म की संज्ञा दी गई है।

आत्मसाक्षात्कार का अर्थ ही ब्रह्मस्वरूप बनना है क्योंकि व्यक्ति की आत्मा ही भूतमात्र की आत्मा है। सत्य के इस अद्वैत को यहाँ इस प्रकार सूचित किया गया है कि जो साधक मुझ आत्मस्वरूप पर ध्यान करते हैं वे ब्रह्म को जानते हैं। ज्ञानी पुरुष के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मेरी शरण हो कर जरा और मरण से मुक्ति पाने का प्रयत्न करते है, वे पुरुष उस निर्गुण, निराकार, सचिदानंदघन परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को अर्थात भगवान की अपरा एवम परा प्रकृति को और आदि संकल्परूप सम्पूर्ण कर्म को जानते है।

जो पुरुष पापरहित, पुण्यकर्मा, सुख दुखादी द्वन्दों से मुक्त एवम दृढ़ निश्चय हो कर भगवान को भजता है वो ही अज्ञान जनित कर्मबंधनो से मुक्त हो कर जरा-मरण एवम जन्मों से भी मुक्त होता है।

अष्टावक्र जी कहते हैं - पंच महाभूतो के विकारों को मात्र पंच महाभूत के रूप में जब तुम देखोगे, उसी क्षण तुम सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर, अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे । इसका तात्पर्य है कि जगत् के विषयों को वास्तविक दृष्टि से देखना ही मोक्ष है और उन्हें उनके स्वभाव के विपरीत देखना ही बन्धन है ।

अष्टावक्र जी कहते हैं -- इस संसार में ऐसा कौन- सा समय है , कौन-सी आयु ऐसी है , जहाँ मनुष्य के जीवन में द्वन्द्व नहीं है । इन सबकी उपेक्षा करने वाला और जो भी जैसा भी प्राप्त होता है, उसमें सहज रूप में बरतने वाला ही परम- पुरुषार्थ- रूप मोक्ष को प्राप्त होता है । यह संसार संघर्ष पर टिका हुआ है ।।

जिस प्रकार स्वप्न में निद्रा-दोषसे कल्पित देश, काल, विषय और ज्ञाता आदि-- सभी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत-अवस्था में भी यह जगत्, अपने अज्ञानका कार्य होने के कारण मिथ्या ही है। इसीलिए यह शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अहंकार आदि सभी मिथ्या हैं। अतः हम वही हैं जो प्रशांत, निर्मल, परम और अद्वितीय ब्रह्म है।

अंतिम दो श्लोक अगले अध्याय की तैयारी ही है, अतः इस मे आये **तीन शब्द ब्रह्म, अध्यात्म एवम सम्पूर्ण कर्म** एवम अगले श्लोक में आये अन्य शब्द ही अगले अध्याय की भूमिका है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.29।।

।। गीता अध्ययन और हम ।। विशेष 7.29 ।।

चिंतन एवम परमात्मा के विषय मे यह विशेष आलेख अत्यंत महत्वपूर्ण एवम जटिल है। किंतु प्रबंधन या न्याय शास्त्र पढ़ने वालों के लिये सोचने का क्या तरीका होता है उस के विषय मे बहुत की बारीक अध्ययन है। परमात्मा को कैसे जाना जाता है यह भी इस को पढ़ कर ही जाना जा सकता है।

महर्षि वेदव्यास जैसे विरले महापुरुष करोड़ों में कोई एक ही पैदा होता है। व्यास ज्ञानी पुरुष की उपाधि है और वेदों को लिखित स्वरूप देने के कारण इन नाम वेदव्यास हुआ। इन का वास्तविक नाम कृष्णद्वैपायन था। गीता महाभारत का महत्वपूर्ण भाग है जिस में समस्त वेदों को और परब्रह्म ही समस्त उपासनाओ के मार्ग को बड़े ही सुन्दर ढंग से पिरोया गया है। अतः मुक्ति के सन्यास मार्ग की व्याख्या करते हुए, कर्म, बुद्धि और भक्ति योग को जोड़ कर ज्ञान के मार्ग से जोड़ा गया। इसलिए भगवदगीता को भगवान से मुख से वर्णित कह कर ज्ञान के उच्चतम मार्ग को विवाद से मुक्त कर दिया गया।

हिंदू धर्म की विडंबना यह रही कि ज्ञान को अधिकारी देख कर वितरित किया गया और जनसामान्य के ज्ञान को भक्ति मार्ग या कर्मयोग मार्ग दिया गया। किंतु ज्ञान के अभाव में यह दोनों मार्ग प्रकृति के द्वंद में फस गए और परमात्मा के प्रति मुक्ति की अपेक्षा सांसारिक या परासांसारिक सुखों के प्राप्त करने का मार्ग हो गया। जगत का मार्ग दर्शन करने वाले ब्राह्मण भी ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा स्वार्थ और लोभ में व्यवहार और सामाजिक नियमो की व्याख्या करने लगे। भगवदगीता ने इन सब भ्रतियों और अज्ञान को उस काल में ही निवारण करने का आंदोलन चलाया।

किंतु अफसोस है कि अधिकतर सनातन धर्म को माननेवाले ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग को अधिक महत्व देने लगे और वे लोग गीता का भी पाठ बिना समझे नित्य धर्मग्रंथ की भांति करने लगे। बच्चों को संस्कार के नाम पर दो चार संस्कृत के श्लोक पढ़ा कर अपने कर्तव्य की इतिश्री होने लगी। यही कारण है कि सनातन धर्म का हिंदू सांसारिक सुखों के मायाजाल में स्वार्थी और लोभी होने लगा।

किंतु फिर भी सनातन धर्म की जड़े गहरी होने से सत्य का प्रकाश फैलता ही है, इसलिए समय समय पर अनेक महापुरुषों, संतों और महान योद्धाओं ने सनातन धर्म को जीवित रखा।

बचपन में जब मेरे सामने बीज गणित या ज्यामिति के प्रश्न आते थे तो समझ में नहीं आने से डर लगता था और उन्हें समझने की अपेक्षा परीक्षा में पास होने के लिए रटना अधिक सुलभ लगता था। यही स्थिति आज भी गीता अध्ययन में ज्ञान मार्ग को समझने में कुछ लोगो की है, जो विषय अनुभव और अपने अथक प्रयास का है, उसे हम रटते अधिक है। इस पर भी अधिक जोर लगता है तो हम उसे छोड़ देते है क्योंकि योगमाया का प्रभाव अधिक होता है और उसे संतुलित कर के प्रकृति संचालित करती है। गीता के ज्ञान मार्ग में जितना अधिक हम समझने की कोशिश करते है, उस से उतनी अधिक शांति और आनंद मिलता है।

जब हम किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति और अव्यक्त के बारे में नही जानते तो हम श्रद्धा से यह भ्रम पाल लेते है कि जो वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों और पुराणों में लिखा और कहा गया है वह सत्य ही होगा। वरना किस ने मृत्यु के बाद या पहले का जीवन देखा है या ब्रह्म को जाना है। यह मात्र श्रद्धा और विश्वास ही है जो हमे इस दुख भरे प्रकृति के संसार से सत चित्त आनंद की ओर ले जाता है। फिर इस का मार्ग भी कौन सा सही होगा क्योंकि मार्ग बताने वाले भी अधिक से अधिक है। अतः हम जो कुछ सुनते है उस से संवादीभ्रम को तैयार करते है कि ऐसा करने से मेरा भला होगा और ऐसा न करने से बुरा। यदि तीर निशाने पर लगा तो लाभ मिलता है और नही लगा तो निराशा। इसी संवादीभ्रम में प्रत्येक जीव विभिन्न तरीकों से उस भ्रम रूपी ब्रह्म को पाने की चेष्टा करता है और विभिन्न तरीके से उपासना करता है। यह भ्रम का होना और करते रहना ही जन्म जन्म का प्रयास है जो वास्तव में मुक्ति की ओर ले जाता है। कहते है कि रास्ता खोजने वाले याद पूर्ण निष्ठा, आलस्य त्याग कर रास्ते को खोजे तो गलत मार्ग मिला तो भी निष्फल संवादीभ्रम होगा और यदि सही मिला तो सफल संवादी भ्रम होगा। किंतु अथक प्रयास से यह सफल संवादी भ्रम मिल ही जाता है। इस के अधिक से अधिक श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता है जो ज्ञान के विवेक को जाग्रत करता है।

जब आप को रास्ते का पता नही हो तो उस में कोई एक रास्ता आप की मंजिल और अन्य किसी अन्य स्थान पर जाता हो तो जिस ने सही रास्ता चुना, उसे मंजिल मिलती और जिस ने गलत चुना उसे अनुभव। ऐसे ही हम मोक्ष के मार्ग पर चलते है और विभिन्न साधु सतों के मार्ग पर श्रद्धा और विश्वास से अलग अलग चल पड़ते है। यह विभिन्न पंथ यदि मुक्ति दिला भी दे तो सही है अन्यथा अनुभव मिलेगा। यही जन्मों की यात्रा है जो समाप्त तो कभी न कभी होगी, किंतु मंजिल तक वही पहुंचेगा, जिस पर भगवद कृपा होगी।

मैने आज के युग में अनेक प्रवक्ता की देखा और सुना है। हजारों में कोई एक स्वामी रामसुख दास या डोंगरे महाराज आदि जैसा मिलता है। बाकी तो मुझे अध्यात्म के व्यवसायी लगे। जो मंच में बैठ कर उन कर्मयोगियों की कमियां गिना देते है, जिन के कर्म से उन्हे माइक, म्यूजिक, हाल और AC की सुविधा और उत्तम गाड़ी मिली है। उन्हे वो धनिक माया में फसा दिखता है और गैरूवें वस्त्र में वे योगी बनते है। किंतु इन कर्मयोगियों ने प्रकृति की चुनौतियों को स्वीकार कर के अनेक खोज और अविष्कार किए, जिस से मानवता और सभ्यता का इतना विकास हो सका। इन लोगो ने धर्म, अर्थ और काम में ऊंचाई को छुआ और अंत में कुछ ने मुक्ति भी प्राप्त की हो। आखिर यह सभ्यता और प्रकृति का सृष्टि

यज्ञ चक्र इन के बिना भी अधूरा ही है, इसलिए अज्ञान का अध्यास संसार का प्रत्येक प्राणी करता है। सभी की गति और मार्ग कम और अधिक हो सकता है, किंतु नकारा नहीं जा सकता। इन से भी गीता का अध्ययन हम किस प्रकार का सीख सकते है।

आदि गुरु शंकराचार्य जी ने ज्ञान के मार्ग के लिए परोक्ष ज्ञान को महत्व दिया है जिस में पढ़ कर, सुन कर और देख कर ज्ञान लिया जाता है और मनन से उसे अपरोक्ष बना कर आत्मसात किया जाता है। वही ज्ञान निदिध्यासन द्वारा बोधगम्य होता है। आइए इसी सीढ़ी पर चल कर हम भी गीता के ज्ञानयोग का अध्ययन शुरू रखते है।

प्रकृति और प्रकृति के कार्य क्रिया पदार्थ आदि के साथ अपना सम्बन्ध मानने से ही सभी विकार पैदा होते हैं और उन क्रिया पदार्थ आदि की प्रकट रूप से सत्ता दीखने लग जाती है। परन्तु प्रकृति और प्रकृति के कार्य से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर के भगवत्स्वरूप में स्थित होने से उन की स्वतन्त्र सत्ता उस भगवत्तत्त्व में ही लीन हो जाती है। फिर उन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं दीखती। **जैसे किसी व्यक्ति के विषय में हमारी जो अच्छे और बुरे की मान्यता है वह मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्व से तो वह व्यक्ति भगवान् का स्वरूप है अर्थात् उस व्यक्ति में तत्त्व के सिवाय दूसरा कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं है।** ऐसे ही संसार में यह ठीक है यह बेठीक है इस प्रकार ठीक- बेठीक की मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्व से तो संसार भगवान् का स्वरूप ही है। हाँ संसार में जो वर्णआश्रम की मर्यादा है ऐसा काम करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये यह जो विधि निषेध की मर्यादा है इस को महापुरुषों ने जीवों के कल्याणार्थ व्यवहार के लिये मान्यता दी है। **जब यह भौतिक सृष्टि नहीं थी तब भी भगवान् थे और इस के लीन होने पर भी भगवान् रहेंगे इस तरह से जब वास्तविक भगवत्तत्त्व का बोध हो जाता है तब भौतिक सृष्टि की सत्ता भगवान् में ही लीन हो जाती है अर्थात् इस सृष्टि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार की स्वतन्त्र सत्ता न रहने पर संसार मिट जाता है उस का अभाव हो जाता है प्रत्युत अन्तःकरण में सत्यत्वेन जो संसार की सत्ता और महत्ता बैठी हुई थी जो कि जीव के कल्याण में बाधक थी वह नहीं रहती।** जैसे सोने के गहनों की अनेक तरह की आकृति और अलग अलग उपयोग होने पर भी उन सब में एक ही सोना है ऐसे ही भगवद्भक्त के द्वारा अनेक तरह का यथायोग्य सांसारिक व्यवहार होने पर भी उन सब में एक ही भगवत्तत्त्व है ऐसी अटलबुद्धि रहती है।

उपासना की दृष्टि से भगवान् के प्रायः दो रूपों का विशेष वर्णन आता है एक सगुण और एक निर्गुण। इन में सगुण के दो भेद होते हैं एक सगुणसाकार और एक सगुणनिराकार। परन्तु निर्गुण के दो भेद नहीं होते निर्गुण निराकार ही होता है। हाँ निराकार के दो भेद होते हैं एक सगुणनिराकार और एक निर्गुणनिराकार। उपासना करनेवाले दो रुचि के होते हैं एक सगुणविषयक रुचिवाला होता है और एक निर्गुणविषयक रुचिवाला होता है। **परन्तु इन दोनों की उपासना भगवान् के सगुणनिराकार रूप से ही शुरू होती है जैसे परमात्मप्राप्ति के लिये कोई भी साधक चलता है तो वह पहले परमात्मा है इस प्रकार परमात्मा की सत्ता को मानता है और वे परमात्मा सब से श्रेष्ठ हैं सबसे दयालु हैं उन से बढ़कर कोई है नहीं ऐसे भाव उसके भीतर रहते हैं तो उपासना सगुणनिराकार से ही शुरू हुई। इसका कारण यह है कि बुद्धि प्रकृति का कार्य (सगुण) होने से निर्गुण को पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुण के उपासक का लक्ष्य तो निर्गुणनिराकार होता है पर बुद्धि से वह सगुणनिराकारका ही चिन्तन करता है।** सगुण की ही उपासना करने वाले पहले सगुणसाकार

मानकर उपासना करते हैं। परन्तु मन में जब तक साकार रूप दृढ़ नहीं होता तबत क प्रभु हैं और वे मेरे सामने हैं ऐसी मान्यता मुख्य होती है। इस मान्यता में सगुण भगवान् की अभिव्यक्ति जितनी अधिक होती है उतनी ही उपासना ऊँची मानी जाती है। अन्त में जब वह सगुण साकाररूप से भगवान् के दर्शन भाषण स्पर्श और प्रसाद प्राप्त कर लेता है तब उसकी उपासना की पूर्णता हो जाती है। निर्गुण की उपासना करने वाले परमात्मा को सम्पूर्ण संसार में व्यापक समझते हुए चिन्तन करते हैं। उनकी वृत्ति जितनी ही सूक्ष्म होती चली जाती है उतनी ही उनकी उपासना ऊँची मानी जाती है। अन्त में सांसारिक आसक्ति और गुणों का सर्वथा त्याग होनेपर जब मैं तू आदि कुछ भी नहीं रहता केवल चिन्मयतत्त्व शेष रह जाता है तब उस की उपासना की पूर्णता हो जाती है। इस प्रकार दोनों की अपनी अपनी उपासना की पूर्णता होने पर दोनों की एकता हो जाती है अर्थत् दोनों एक हीतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं । सगुण साकार के उपासकों को तो भगवत्कृपा से निर्गुण निराकार का भी बोध हो जाता है **मम दरसन फल परम अनूपा।जीव पाव निज सहज सरूपा।** निर्गुण निराकार के उपासक में यदि भक्ति के संस्कार हैं और भगवान् के दर्शन की अभिलाषा है तो उसे भगवान् के दर्शन हो जाते हैं अथवा भगवान् को उस से कुछ काम लेना होता है तो भगवान् अपनी तरफ से भी दर्शन दे सकते हैं। जैसे निर्गुणनिराकार के उपासक मधुसूदनाचार्यजी को भगवान् ने अपनी तरफसे दर्शन दिये थे।

वास्तव में परमात्मा सगुण निर्गुण साकार निराकार सब कुछ हैं। सगुणनिर्गुण तो उन के विशेषण हैं नाम हैं। साधक परमात्मा को गुणों के सहित मानता है तो उस के लिये वे सगुण हैं और साधक उन को गुणों से रहित मानता है तो उस के लिये वे निर्गुण हैं। वास्तव में परमात्मा सगुण तथा निर्गुण दोनों हैं और दोनों से परे भी हैं। परन्तु इस वास्तविकता का पता तभी लगता है जब बोध होता है। भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य ऐश्वर्य औदार्य आदि जो दिव्य गुण हैं उन गुणों के सहित सर्वत्र व्यापक परमात्मा को सगुण कहते हैं। इस सगुणके दो भेद होते हैं (1) सगुणनिराकार जैसे आकाशका गुण शब्द है पर आकाशका कोई आकार (आकृति) नहीं है इसलिये आकाश सगुणनिराकार हुआ। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसार में परिपूर्णरूप से व्यापक परमात्मा का नाम सगुणनिराकार है।(2) सगुणसाकार वे ही सगुणनिराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृति को अधिष्ठित कर के अपनी योगमाया से लोगों के सामने प्रकट हो जाते हैं उन की इन्द्रियों के विषय हो जाते हैं तब उन परमात्मा को सगुणसाकार कहते हैं। सगुण तो वे थे ही आकृतियुक्त प्रकट हो जाने से वे साकार कहलाते हैं। जब साधक परमात्मा को दिव्य अलौकिक गुणों से भी रहित मानता है अर्थात् साधक की दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी तरफ रहती है तब परमात्मा का वह स्वरूप निर्गुणनिराकार कहा जाता है।गुणोंके भी दो भेद होते हैं (1) परमात्मा के स्वरूपभूत सौन्दर्य माधुर्य ऐश्वर्य आदि दिव्य अलौकिक अप्राकृत गुण और (2) प्रकृतिके सत्त्व रज और तम गुण। परमात्मा चाहे सगुणनिराकार हों चाहे सगुणसाकार हों वे प्रकृतिके सत्त्व रज और तम तीनों गुणोंसे सर्वथा रहित हैं अतीत हैं। वे यद्यपि प्रकृति के गुणों को स्वीकार कर के सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय की लीला करते हैं फिर भी वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा रहित ही रहते हैं । जो परमात्मा गुणों से कभी नहीं बँधते जिन का गुणों पर पूरा आधिपत्य होता है वे ही परमात्मा निर्गुण होते हैं। अगर परमात्मा गुणों से बँधे हुए और गुणों के अधीन होंगे तो वे कभी निर्गुण नहीं हो सकते। निर्गुण तो वे ही हो सकते हैं जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं और जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं ऐसे परमात्मा में ही सम्पूर्ण गुण रह सकते हैं। इसलिये परमात्मा को सगुण निर्गुण साकार निराकार आदि सब कुछ कह सकते हैं।

व्यवहारिक सोच में हम यह सब आज के युग मे चिंतन नही करते है। भौतिक जीवन मे 24 घण्टे खाने-पीने और कमाने में गुजर जाते है। बचपन मे जब हमे पाला पोसा जाता है तो पढ़ाई के लिये विशेष जोर दिया जाता है, किन्तु मानसिकता सरलता एवम आलस्य की होने से सन से महत्वपूर्ण कार्य सब से पीछे होता है। फिर रोजमर्रा की जिंदगी में भी उच्चतम स्तर को प्राप्त करने का अभ्यास न करने का कारण हमारा आलस्य, आराम और निंद्रा ही है किंतु हम उसे व्यस्तता के नाम देते है। हमारा समय का सही और उच्चतम उपयोग हो, इस कि बजाय हम अपना समय किस प्रकार व्यस्तता के साथ बर्बाद करते है, इस का पता भी समय के गुजर जाने के बाद पता चलता है। गीता अध्ययन के कठिन दौर में हम सरल एवम समझने लायक बाते कहना सुनना पसंद करते है। इसलिये सगुण उपासना सरल लगती है, किन्तु चित्त की एकाग्रता की वृद्धि से सगुण से निराकार की यात्रा कठिन लगती है। निर्गुणकार की छवि भी हम ध्यान द्वारा प्रकृति या ब्रह्मांड स्वरूप में अनुभव करते है तो उस छवि से आगे निकलना हमे ऐसा लगता है कि संसार तो नही छूट रहा। फिर अंत मे जिसे पकड़ कर रखते है, वह छूटने के समय आने पर हम लगता है कि एक व्यर्थ जीवन व्यतीत हो गया। गीता किसी आश्रम या पेड़ के नीचे दिया हुआ ज्ञान नही है, यह युद्ध भूमि में कर्तव्य धर्म का निष्काम कर्मयोग है, यह अध्ययन जीवन की सार्थकता का मार्ग हो सकता है, जिस का चिंतन हमे हमारे होने का बोध करवा सकता है, किन्तु क्या हम इन्द्रिय, मन और बुद्धि से तैयार है ?

ज्ञान के सातवें अध्याय के बाद ज्ञान के अत्यंत गहन विषय पर आगे चर्चा करेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.29 विशेष ।।

॥ श्रीमद्‍भगवद्‍गीता ॥ 7.30॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

"sādhibhūtādhidaivaḿ māḿ,
sādhiyajñaḿ ca ye viduḥ..।
prayāṇa-kāle 'pi ca māḿ te,
vidur yukta-cetasaḥ"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य मुझे अधिभूत (सम्पूर्ण जगत का कर्ता), अधिदैव (सम्पूर्ण देवताओं का नियन्त्रक) तथा अधियज्ञ (सम्पूर्ण फ़लों का भोक्ता) सहित जानता हैं और जिसका मन निरन्तर मुझ में स्थित रहता है वह मनुष्य मृत्यु के समय में भी मुझे जानता है। (३०)

Meaning:

Those who know me with “adhibhoota”, “adhidaiva” and “adhiyagnya” with a focused mind during the time of departure, they realize only me.

Explanation:

Studying the Gita is akin to taking off in an airplane. Each chapter takes us to a higher and higher level of understanding. In this, the final shloka of the seventh chapter, we are taken from the level of the individual to the level of the cosmic. Shri Krishna introduces a topic that all of us have to confront: how should we prepare ourselves for death?

We cannot begin to answer this question unless we gain an understanding of the cosmos, where did it come from, how is it sustained, where is it going and so on. Therefore, Shri Krishna in the eighth chapter shifts gears to address these questions.

Here, he introduces three additional terms: "adhibhoota", "adhidaiva" and "adhiyagnya". These terms along with the 3 terms from the previous shloka will be explained in the beginning of the next chapter. He also says that the wise devotee who has his mind focused on Ishvara realizes or attains Ishvara.

Brahma, karma, adhyātmaṃ, ādhi bhutam; ādhi daivam; ādhi yajñām; all these six factors they know. But you know what the secret is? all these six factors is nothing but parā Prakruti plus aparā Prakruti; but the very parā- and-aparā- Prakruti- mixture Krishna is presenting in the form of these six technical terms.

Wise person, this wise person will not only know these six factors completely; wise person will remember them at the time of death also.

Shree Krishna mentions that those enlightened souls who know Him are truly devoted to Him, and even at the time of their death, they are in full consciousness of Him. Such true devotees attain His divine abode. But how can one remember God even at the time of death? Death is said to be a very painful journey, comparable to 2000 scorpions biting at the same time. Such extreme pain is beyond the tolerance of any normal human; a person loses consciousness; the mind and the intellect stop working much before the end.

Those enlightened beings who have attained true knowledge are ever filled with devotion to God, their mind and intellect, all surrendered and attached to Him alone. Thus, their bodies are beyond pleasure and pain even at the time of death.

Let's say we only think of chocolate ice cream for an entire day, non-stop. We do not let any other thought come into our mind. When we wake up the next day, what would be our first thought? Chocolate ice cream, of course. Similarly, Shri Krishna says that whatever we think just before we die shapes our destiny after we die. If we think of something worldly during the time of death, our destiny will be worldly. But if we think of Ishvara during our time of dying, we will attain Ishvara.

Now, although we like to plan our lives to the nth degree, none of us knows when we will die. If that is the case, the thought that is top priority in our minds will become our final thought. If we are worried about our job all the time, that will be our last thought. If we are worried about our family all the time, that will be our last thought. If we are worried about our the state of the world all the time, that will be our last thought.

Therefore, the practical lesson here is that we should learn to direct our attention towards Ishvara while we are performing our duties on this world. How exactly we should do this, as well as how the cosmos came into existence, is the topic of the eighth chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

श्लोक 29-39 को साथ मिला कर ले तो ईश्वर का कहना है जो पुरुष मेरे परायण हो कर जन्म मरण रूप दुख से छूटने के लिये दृढ़ पुरुषार्थ करते है **वे ही उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अधिभूत, सम्पूर्ण अधिदेव तथा सम्पूर्ण अधियज्ञ एवम समचित्त वाले है वो ही मुझे जानते है और अंतकाल मे मुझे स्मरण कर सकते है अर्थात अध्यात्म- आधिदेवादि अखिल भाव ब्रह्मरूप ही है, वह ब्रह्म मैं अर्थात परमात्मा ही है।** यह सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी जड़ से चेतन पदार्थ या क्रियाए जानने या अनुभव में आती है, वह ब्रह्म ही है। इसलिये अंत समय तक जो इस ब्रह्मात्मैक्य को जान लेता है, वह ब्रह्म अर्थात योग चित्त हो जाता है। अंत समय तक जानना, ब्रह्म में योगयुक्त होना है, यदि अंत समय कोई भी काम-वासना, आसक्ति या मोह, अहम आ गया तो योगयुक्त छूट जाता है, जो अंत समय सोचा जाए, वही अगले जन्म का कारक बन जाता है।

धर्मशास्त्रों एवम उपनिषदों के सिद्धांतों को माने तो मरण काल मे मनुष्य की बुद्धि एवम मन मे जो कुछ भी प्रबल होता है उस के अनुसार ही उस का अगला जन्म होता है। किंतु परमात्मा का ज्ञान जीवन काल मे यदि नही है तो मरते वक्त या अंत काल मे भी यह ज्ञान नही हो सकता। क्योंकि मन एवम बुद्धि उसी ज्ञान को अंत काल तक रख सकती है जो मनुष्य में अपने जीवन काल मे प्राप्त किया हो।

मृत्यु किसी ने नहीं देखी अर्थात महसूस की है, इसलिए उस समय की मानसिक और शारीरिक स्थिति का यथार्थ वर्णन कर पाना संभव नहीं। परंतु मृत्यु से सभी को डर लगता है चाहे वह प्रकृति का कितना

भी तुच्छ जीव क्यों न हो। इस का कारण भी पुनर्जन्म का अनुभव ही बताया गया है क्योंकि पूर्व जन्म में मृत्यु को जिस ने भोगा है, उसे ही इस जन्म में मृत्यु से भय भी लगता है। ऐसा भी कहा गया है जीव तो नित्य, अकर्ता, साक्षी है किंतु वह प्रकृति के सूक्ष्म शरीर से लिपटा है। यह सूक्ष्म शरीर मन की भावनाओ की तरंगों पर अधिक कार्य करता है इसलिए मृत्यु के समय जीव की आसक्ति जिस वस्तु पर होती है उसी प्रकार की या मिलती जुलती नई देह में मृत्यु के बाद यह सूक्ष्म शरीर तुरंत प्रवेश प्राप्त कर के नव जीवन प्राप्त कर लेता है। इस से वो ही बच सकता है, जो कामना और आसक्ति से रिक्त हो। यदि यह आसक्ति परमात्मा की हो, तो जीव को मुक्ति भी मिल जाती है।

यहाँ अधिभूत नाम भौतिक स्थूल सृष्टि का है जिसमें तमोगुण की प्रधानता है। जितनी भी भौतिक सृष्टि है उस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उस का क्षणमात्र भी स्थायित्व नहीं है। फिर भी यह भौतिक सृष्टि सत्य दीखती है अर्थात् इसमें सत्यता स्थिरता सुखरूपता श्रेष्ठता और आकर्षण दीखता है। यह सत्यता आदि सब के सब वास्तव में भगवान् के ही हैं क्षणभङ्गुर संसार के नहीं। तात्पर्य है कि जैसे बर्फ की सत्ता जल के बिना नहीं हो सकती ऐसे ही भौतिक स्थूल सृष्टि अर्थात् अधिभूत की सत्ता भगवान् के बिना नहीं हो सकती। इस प्रकार तत्त्व से यह संसार भगवत्स्वरूप ही है ऐसा जानना ही अधिभूत के सहित भगवान् को जानना है। अधिदैव नाम सृष्टि की रचना करने वाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी का है जिन में रजोगुण की प्रधानता है। भगवान् ही ब्रह्माजी के रूप में प्रकट होते हैं अर्थात् तत्त्व से ब्रह्माजी भगवत्स्वरूप ही हैं ऐसा जानना ही अधिदैव के सहित भगवान् को जानना है।अधियज्ञ नाम भगवान् विष्णु का है जो अन्तर्यामीरूप से सब में व्याप्त हैं और जिन में सत्त्वगुण की प्रधानता है। तत्त्व से भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सब में परिपूर्ण हैं ऐसा जानना ही अधियज्ञ के सहित भगवान् को जानना है।अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ के सहित भगवान् को जानने का तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर के किसी एक अंश में विराट् रुप है और उस विराट् रुप में अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड) अधिदैव (ब्रह्माजी) और अधियज्ञ (विष्णु) आदि सभी हैं जैसा कि अर्जुन ने कहा है हे देव मैं आप के शरीर में सम्पूर्ण प्राणियों को जिन की नाभि से कमल निकला है उन विष्णु को कमल पर विराजमान ब्रह्म को और शंकर आदि को देख रहा हूँ । अतः तत्त्व से अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण ही समग्र भगवान् हैं। जो संसार के भोगों और संग्रह की प्राप्ति अप्राप्ति में समान रहनेवाले हैं तथा संसार से सर्वथा उपरत होकर भगवान् में लगे हुए हैं वे पुरुष युक्तचेता हैं। ऐसे युक्तचेता मनुष्य अन्तकाल में भी मेरे को ही जानते हैं अर्थात् अन्तकाल की पीड़ा आदि में भी वे मेरे में ही अटलरूप से स्थित रहते हैं। उन की ऐसी दृढ़ स्थिति होती है कि वे स्थूल और सूक्ष्मशरीर में कितनी ही हलचल होने पर भी कभी किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं होते।

आत्मानुभवी पुरुष न केवल मन के स्वभाव (अध्यात्म) और कर्म ऋे स्वरूप को ही जानते हैं वरन् वे अधिभूत (पंच विषय रूप जगत्) अधिदैव (इन्द्रिय मन और बुद्धि की कार्य प्रणाली) और अधियज्ञ अर्थात् उन परिस्थितियों को भी जानते हैं जिनमें विषय ग्रहण रूप यज्ञ सम्पन्न होता है।ईश्वर के किसी रूप विशेष के भक्त के विषय में सम्भवत यह धारणा उचित हो सकती है कि भक्तजन अव्यावहारिक होते हैं और उनमें सांसारिक जीवन को सफलतापूर्वक जीने की कुशलता नहीं होती। एक सगुण उपासक अपने इष्ट देवता का ध्यान करने में ही इतना भावुक और व्यस्त हो जाता है कि उसमें संसार को समझने की न रुचि होती है और न क्षमता। परन्तु वेदान्त शास्त्र में आत्मज्ञानी पुरुष का जो चित्रण मिलता है उसके अनुसार वह पुरुष न केवल आत्मानुभव में दृढ़निष्ठ होता है वरन् वह सर्वत्र सदा एवं समस्त परिस्थितियों में अपने मन का स्वामी बना रहता है और ऐसी सार्मथ्य से सम्पन्न होता है जिसे

सम्पूर्ण जगत् को स्वीकार करना पड़ता है।ऐसा स्वामित्व प्राप्त पुरुष ही जगत् को नेतृत्व प्रदान कर सकता है। सब प्रकार के असंयम एवं विपर्ययों से मुक्त वह ज्ञानी पुरुष अध्यात्म और अधिभूत को जानते हुए जगत् में ईश्वर के समान रहता है। सारांशत इस अध्याय की समाप्ति भगवान् की इस घोषणा के साथ होती है कि जो पुरुष मुझे जानता है वह सब कुछ जानता है।

सातवें अध्याय का यह अंतिम श्लोक आठवें अध्याय का प्रारंभ है। गीता भी शनेः शनेः अध्यात्म के उस स्तर को छू रही है जिसे परमात्मा के नाम से हम जानते है एवम जन्म, मरण और संसार को जानने की उच्च स्तर का ज्ञान अब धीरे धीरे सामने आ रहा है। यह विधिवत लिखा ग्रंथ होने से मन मे जितनी भी शंका रहती है उस का निवारण आप पढ़ने वालों का क्रम बद्ध किया गया है जिसे हम अब आगे आठवें अध्याय से पढेंगे।

यहां यह कहना अनुचित नहीं है कि वेदान्तिक संस्कृति मात्र कल्पना पर आधारित नही है यह ज्ञान और विज्ञान दोनो है इसलिए संसार में एक मात्र सनातन संस्कृति ही आज वैज्ञानिक युग के समांतर है और इस के प्रत्येक सिद्धांत विज्ञान की कसौटी में भी परखे जा सकते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 7.30।।

॥ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ॥ अध्याय: ७ सारांश॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भगवद्ज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

|| ōṃ tatsaditi śrīmadbhagavadgītāsūpaniṣatsu brahmavidyāyāṃ yōgaśāstrē śrīkṛṣṇārjunasaṃvādē jñānavijñānayōgō nāma saptamō'dhyāyaḥ ||

भावार्थ:

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद् भगवदगीता में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद में ज्ञान- विज्ञान योग नाम का सातवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ ॥

Meaning:

Thus ends the Seventh chapter named Jñāna- vijñāna- yōga in Shrimad Bhagavad Gita, which is the essence of the Upanishads, which deals with Brahman- knowledge as well as the preparatory discipline, and which is in the form of a dialogue between Lord Krishna and Arjuna.

Thus, is concluded the seventh chapter of the Gītā, which is titled jñāna-vijñāna - yoga.

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

Summary of Bhagvad Gita Chapter 7:

In the sixth chapter, Shri Krishna elaborated upon the technique of meditation. But one question was left unanswered. What or whom do we meditate upon? Shri Krishna answers that question in this chapter. He urges us to meditate upon him and begins speaking to us as Ishvara.

Krishna highlighted on the role of individual effort, so that we do not have a dangerous fatalistic approach. One of the pitfalls of the human pursuit or human life is the tendency to become fatalistic.

Especially when we face a few problems. When we face a few failures; we conclude that nothing is in our hands; everything is controlled by someone; things have been already written on the forehead, we are only simple puppets in the hands of someone. This is the most dangerous fatalistic approach which is fatal. Spiritually fatal. Therefore, Krishna gives a strong warning in the first six chapters. Never take to this fatalistic approach; it is not that everything is pre-determined; you have got control over your future; you can take charge of your life; Krishna does not say I have got total control. Krishna says I am not totally helpless. Krishna does not say I have total control; Krishna only says I am not totally helpless; I do have a contributory role in deciding my future and therefore take charge of your life.You are responsible for your future; this is called jīva prayathna; puruṣa prayathnaḥ; or assertion of the freewill, which is the unique faculty of a human being.

Before he describes what Ishwara really is, he assures us that we shall know him completely through knowledge combined with wisdom. Just academic knowledge about Ishvara is not sufficient. He adds that those who seek wisdom, which is the vision of Ishvara in his essence, are rare.

Shri Krishna says that there are 2 aspects of Ishvara, the lower and the higher. The lower nature comprises the five elements plus the mind, ego and intellect. The higher nature comprises the life-giving force which is also the experiencer, the subject. Ishvara is the ultimate cause of the universe. As the origin and cause of the universe he pervades all things like a string pervades beads in a necklace. To illustrate, he gives examples of his manifestations or vibhootis - he is the fragrance in earth and brightness in fire and so on.

So then, what is it that veils Ishvara from us, prevents us from accessing Ishvara? It is his maaya, which is nothing but the three gunas - sattva, rajas and

tamas. Sattva represents harmony, rajas represent action and tamas represents inertia. These three forces or energies create the entire universe. Only by surrendering to Ishvara can we cross over this maaya, and only a certain kind of person is fit to do so.

According to Shri Krishna, there are two categories of people - those who perform evil actions and those who perform good actions. The performers of good actions who turn to something that is higher than them are called devotees. Those devotees are further divided into 4 types: the distressed, the inquisitive, the seeker of liberation and the wise. The wise devotee is the dearest to Ishvara because he seeks Ishvara as his own self, seeking nothing else.

But unlike the wise devotee, the other three types of devotees seek Ishvara for something finite. Ishvara is not against this because at the very least it strengthens their faith and weakens their ego, so that one day they can aim for the real deal - realization of the infinite Ishvara, not a deity that can only provide finite ends. Till that happens, Ishvara delivers the results through those finite deities.

Ishvara's true nature is beyond maaya, which means he is beyond the three gunaas, beyond our mind and senses, unborn and unchanging. He is beyond space and time. But ever since the beginning of creation, most of us bound by maaya are under the sway of space, time and the three gunas.

The conclusion is clear. Only those who aspire to realize Ishvara in his true infinite nature and are ready to do so every moment of their life, will attain Ishvara. Karma yoga purifies our mind to prepare us for this task. But we need to learn the means by which we can gradually train ourselves to go beyond the finite notion of Ishvara. That is the topic of the eighth chapter, which first elaborates upon the technical terms introduced at the end of this chapter.

सारांश - सांतवा अध्याय:

अध्याय 2 से 6 तक हम ने एकत्व आम समत्व भाव के बारे में पढ़ा, कि किस प्रकार निष्काम कर्मयोग, सांख्य योग, ज्ञान योग एवम भक्ति योग सभी एक ही ब्रह्म की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग है। किंतु जीव की प्रवृति के अधिक अनुकूल होने एवम प्रत्येक जन के लिये सम्भव होने से कर्मयोग ही अधिक उत्तम मार्ग है जिस के कारण जीव सृष्टि यज्ञ चक्र का भाग हो कर लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है। निष्काम एवम

समतत्व भाव के कारण जीव ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है, अतः अध्याय 7 से हम ने ब्रह्मज्ञान का अध्ययन शुरू किया।

योगेश्वर श्री कृष्ण कहते है कि हजारों में कोई विरला ही अनन्य भाव से समर्पित हो कर मेरे आश्रित हो मुझ में योग लगाता है वो ही समग्र रूप से मुझे जानता है। ईश्वर ने अपने एकत्व भाव से योग पाने के निमित्त अपनी सर्वात्मता एवम सर्वरूपता का उपदेश दिया।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवम अहंकार- आठ भेदों वाली मेरी 'अष्टधा: अपरा यानि जड़ प्रकृति है एवम जीव रूप मेरी परा प्रकृति है। (सांख्य में इसे में 24 तत्व बताये गए है किंतु इन 24 तत्व को आठ में ही निहित करती है) इन के संयोग से यह पूरा जगत है। मै हर जड़ एवम चेतन पदार्थ हूँ किन्तु इन मे कोई भी मुझ में नही है। मैं तो प्रकृति एवम प्रकृति के परिणाम स्वरूप संसार सब से परे हूँ किन्तु मुझ से परे कुछ भी नही है। यह सम्पूर्ण संसार मुझ से माला के मणियों के सूत्र की भांति पिरोया हुआ है।

इस प्रकार परमात्मा को परा- अपरा प्रकृति में परिभाषित किया गया। इसे हम परमात्मा का स्वरूप जड़-चेतन स्वरूप में समझ सकते है। दोनो ही स्वरूप कब और कैसे बने से ज्यादा जरूरी यही बताया गया कि दोनों ही अनादि है क्योंकि ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का मूल है, जो अजन्मा, अनादि और नित्य है।

यह प्रकृति मेरी ही योग माया से जीव को भ्रमित कर के अपने त्रियामी गुण सत-रज-तम से यह संसार चलाती है और जीव अपने अहम एवम कामनाओं के अनुसार मुझे छोड़ कर विशिष्ट देवताओ की पूजा करते है। उन को देवताओ के प्रति कामनाओं से ले कर उनकी कामनाओं की प्राप्ति भी मैं ही करता हूँ।

परब्रह्म जगत का रचयिता ही नही, सम्पूर्ण जगत ही है। परमात्मा कोई बाहरी तत्व न हो कर कर्ता - अकर्ता , साक्षी, स्थित सम्पूर्ण है। उसे अपने से अलग समझना ही प्राथमिक भूल होगी। वह जगत का कारण और कारक दोनो ही है।

मेरे चार प्रकार के भक्त है अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु एवम ज्ञानी। ज्ञानी विरले ही भक्त होते है जो संसार को त्याग कर मुझे भजते है, बाकी अपनी अपनी कामनाओं के हिसाब से मुझे भजते है।

मेरे और जीव के बीच मे माया का पर्दा है। इसलिये जैसे ही जीव मेरी अपरा प्रकृति से मिलता है उस को मन, बुद्धि अहंकार घेर लेते है और उस मे इच्छा का जन्म होता है। यह इच्छा सांसारिक सुख की ओर उसे आकर्षित करती है और अपनी इच्छा पूर्ति के लिये वो अहम भाव से कर्म करता है और कर्म बंधन में फस जाता है। वो इस जन्म का हेतु भूल कर प्रकृति के आधीन हो कर सांसारिक सुखों के लिये कर्म करता है एवम मुझे न भज कर विशिष्ट देवताओ की पूजा करने लग जाता है जो उस की इच्छा की पूर्ति कर सके। यद्यपि जड़ प्रकृति से उत्पन्न है वस्तु नाशवान के किन्तु उस की लालसा एवम अहम इस को स्वीकार नही करते और वह जन्म मरण के चक्कर मे पड़ा रहता। भगवान ने इन्हें अज्ञानी एवम अल्पबुद्धि के जीव माना है तथा यह भी कहा है कि अंत समय मे भी जो मुझे ऐसा जान लेते है वो भी योग युक्त ही होते है।

योगमाया से पूरे संसार को अज्ञान से जकड़ लिया है, जिसे हम ज्ञान कहते या समझते है, वह इसी अज्ञान का हिस्सा होता है, इसलिये सांसारिक दुखो से निवृति और सांसारिक सुखों के आनन्द में ही हम अपनी समस्त शक्तियां लगा कर, यज्ञ, पूजा, पाठ, ध्यान आदि करते है। विज्ञापन आते है, स्वांस या कपाल क्रिया से ह्रदय रोग से मुक्ति पाओ, ध्यान से कैंसर से मुक्ति पाओ। यह यंत्र से धन लाभ और इस मंत्र जाप से शत्रु विजय, अच्छा पति या पत्नी, नौकरी, व्यापार आदि आदि। किन्तु जो चेतन्य जीव है, उसे इस योगमाया के अज्ञान से कैसे मुक्ति मिले, यह सोचना भी भय उत्पन्न करता है कि मृत्यु तो नही मांग रहे। शरीर ही जीवन, आत्मा, ब्रह्म है, इस से जो सुख भोगना है, शरीर के इस अज्ञान को मिटा पाना ही वास्तविक ज्ञान है, जब तक परमात्मा को अनुभव नही करते, तब तक भ्रमित ही रहते है। जो परमात्मा को अनुभव करता है, वही ज्ञानी है, वही ब्रह्मस्वरूप है। ज्ञानी ही सही भक्त है, बाकी भक्ति सात्विक होते हुए भी सांसारिक है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण में हम अज्ञान में ज्ञान का प्रचार जब तक मोक्ष का नही करते हम प्रथम तीन श्रेणी के भक्त ही है। जो परमात्मा को सात्विक गुणों के कारण प्रिय है, जिन की मनोकामना भी उन के द्वारा विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, पूजा पध्दति एवम देवी देवताओं के माध्यम से परमात्मा पूरी भी करता है किंतु जन्म-मरण के चक्र से मुक्त ब्रह्मसन्ध नही। गीता का ज्ञान, इसी अज्ञान के कुचक्र से निकलने का व्यवहारिक ज्ञान है, जिसे अनुभव किये बिना समझ पाना दुष्कर है। यह व्यक्ति को जीवन की शैली कैसी हो, सत्य के ज्ञान के साथ बता रही है। इस को समझ पाना अपने आप मे बहुत बड़ी उपलब्धि है। ज्ञान के सातवें अध्याय के बाद और भी गहन विषय की ओर बढ़ते है।

ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये ज्ञानयुक्त योगी को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि वह कामना-आसक्ति और अहम से मुक्त होता है। वह जब इन से मुक्त हो कर श्रद्धा एवम विश्वास से ब्रह्म के प्रति समर्पित हो जाता है तो ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। किन्तु आर्त, अर्थार्थी एवम जिज्ञासु भक्त में ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण उन में निहित राग-द्वेष ही बताया है, जो उन की कामना-आसक्ति और अहम का प्रतीक है। ध्यान रखने योग्य बात यही है कि जब तक सात्विक गुणों से भक्त भगवान की पूजा-अर्चना करता है, तब तक योगमाया से प्रभावित जीव चाहे कामना- आसक्ति से ग्रसित हो कर जो कुछ भी करता है, परमात्मा को वह प्रिय ही होता है, इसलिये विभिन्न देवताओं द्वारा परमात्मा उस की कामनाओं की पूर्ति भी करते है।

सांतवा अध्याय व्यवहारिक दृष्टि कोण से भी ज्ञान- विज्ञान योग है। हमारे ज्ञान की एक परिधि होती और अज्ञान की कोई परिधि नही होती। हम अपने ज्ञान द्वारा अपने अज्ञान की मिथ्या परिधि बना लेते है उसे हम धारणा, अंध विश्वास, अति आत्मविस्वास भी कह सकते है। इस मे हम उन तथ्यों को भी सही एवम सत्य सिद्ध करने की कोशिश करते है जो हम ने कभी अध्ययन ही नही किये किंतु उन को अन्य लोगो से सुना या देखा है। परमात्मा के बारे में भी अक्सर मैंने ऐसे लोगो को अनर्गल बहस करते सुना है। गीता ही एक मात्र ऐसा ग्रंथ है जो कहता है कि परमात्मा किसी भी जड़ पदार्थ को नही माना जा सकता, कोई भी कर्म कांड परमात्मा नहीं हो सकता किन्तु इन सब मे परमात्मा होता है और परमात्मा में यह सब नही होता। परमात्मा को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय ज्ञानी होना है, जब तक आप स्वयं तत्वविद नही होते, आप परमात्मा के स्वरूप को तो देखते है किंतु परमात्मा को नही। सब लोग अपने अपने ज्ञान द्वारा अपने अर्ध सत्य को ही सत्य के स्थान पर स्थापित करते है किंतु सत्य को स्थापना की

आवश्यकता नही क्योंकि सत्य पूर्ण ज्ञान का स्वरूप है उसे ज्ञानी हो कर ही जाना जा सकता है। कोई बहस, तर्क, सिंद्धान्त या नियम सत्य को परिभाषित नही कर सकता।

परमात्मा के अद्वेत एवम द्वेत स्वरूप का विस्तार से वर्णन एवम मन एवम कामना को जानने के लिये सातवां अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है। ईश्वर सभी ओर कण कण में है और ईश्वर के अंश होने के पश्चात भी हम ईश्वर के इतने निकट रहते हुए भी उस को नही भज पाते एवम समर्पित नहीं हो पाते। अगले अध्यायो में ईश्वर का सम्पूर्ण वर्णन है जिस को समझने के ईश्वर के इस अध्याय को समझना एवम आत्मसात करना जरूरी है। सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान में हम ने परमात्मा के दो स्वरूप परा एवम अपरा प्रकृति के बारे में पढ़ा। ज्ञान अर्थात सगुण एवम विज्ञान अर्थात निर्गुण स्वरूप में दोनो स्वरूप को अध्याय के अंत मे 6 भागो में बांट दिया है , जिसे हम कर्म, ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव एवम अधियज्ञ के नाम से अगले अध्याय में पढ़ेंगे। जो ज्ञानी है,वह परमात्मा को इन 6 भागो में अपने अंतिम समय तक जानता है।

धर्मशास्त्रों एवम उपनिषदों का सिंद्धान्त है कि मरण काल मे मनुष्य के मन मे जो बुद्धि प्रबल रहती है, उस के अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है। इसी सिंद्धान्त को लक्ष्य कर के मरण काल मे भी शब्द का प्रयोग योग युक्त होने के लिये किया गया है किंतु मरने से पहले परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हुए बिना केवल अंतकाल में भी यह ज्ञान नही हो सकता। परमात्मा के पूर्ण ज्ञान एवम स्वरूप को अब आगे समझने के लिये पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। अध्याय 7 सारांश ।।

===